

सहजानंद शास्त्रमाला

मोक्षशास्त्र प्रवचन

दशम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ‘‘सहजानन्द’’ महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णोंजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक ‘मोक्षशास्त्र प्रवचन दशम भाग’ अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्ण की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें मोक्षशास्त्र अध्याय 1 के सूत्र 31 से सूत्र 33 तक प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णोंजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित करना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हौरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु डॉ. उदयजी मेहता सीएटल अमेरिका के द्वारा रु. 750/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी राहिंज, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छावड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto>Email-vikasnd@gmail.com)

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णों‘सहजानन्द’ महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥१॥
 मैं वह हूँ जो हैं भगवान्, जो मैं हूँ वह हैं भगवान्।
 अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥
 मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
 किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥
 सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
 निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥
 जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
 राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥
 होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
 दूर हटो परकृत परिणाम, ‘सहजानन्द’ रहूँ अभिराम॥
 अहिंसा परमोर्धम

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥१॥
 हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
 हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन०, मैं सहजानन्द०॥२॥
 हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।
 पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥३॥
 आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
 निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥४॥

Contents

प्रकाशकीय.....	2
आत्मकीर्तन.....	3
आत्म रमण	3
सूत्र 31.....	5
सूत्र 32.....	6
सूत्र 33.....	15

मोक्षशास्त्र प्रवचन दशम भाग

सूत्र 31

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

आदि के तीन ज्ञानों में विपर्ययता की संभावना—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान—ये तीन ज्ञान विपर्यय भी होते हैं। विपर्यय का अर्थ है अन्य प्रकार याने जिस प्रकार पदार्थों का स्वरूप है उस प्रकार ज्ञानने में आवे सो तो है सम्यग्ज्ञान, और उससे उल्टा ज्ञानने में आवे इसे कहते हैं विपरीत ज्ञान। किससे विपरीत? विपर्यय शब्द का अर्थ होता है उल्टा, तो किससे उल्टा? तो अर्थ आया सम्यग्ज्ञान से उल्टा, यह कैसे जाना गया? यों जाना गया कि यह सारा ही प्रकरण सम्यग्ज्ञान का था। अब सम्यग्ज्ञान का वर्णन तो समाप्त हुआ, उसके बाद फिर उससे विपरीत ऐसा कहने से वही अर्थ बना कि सम्यग्ज्ञान से विपरीत मिथ्याज्ञान मति श्रुत अवधिज्ञान है, क्यों है यह विपरीत ज्ञान? तो मिथ्यादर्शन का परिग्रह लगने से दर्शन मोहनीय का उदय होने पर इस जीव को मिथ्यादर्शनरूप परिणाम होता है। उस परिणाम के साथ स्वार्थ समवाय होने से मायने यह ही तो जीव है जिसको मतिज्ञान हो रहा और वहाँ हो रहा है मिथ्यादर्शन तो उस मिथ्यादर्शन का परिणाम होता है, उसके साथ समवाय है याने एक ही अर्थ में, एक ही जीव में मिथ्यादर्शन है और मतिज्ञान है तो वह मतिज्ञान विपरीत हो जाता है।

कुज्ञानों में विपरीतता का कारण आधार के दोष से आधेय में दोष का आना—यहां शङ्काकार कहता है कि यह बात तो कुछ जंचतीसी नहीं। कैसा ही दर्शन मोह हो या अन्य कुछ बात हो जीव में तो मतिज्ञान कैसे विपरीत हो जायेगा? देखो हीरामणि यदि संडास में भी गिर जाये तो हीरामणि तो विपरीत नहीं हो जाता कि वहाँ गिरने से वह लोहा बन जाये या और कुछ हो जाये, ऐसा तो नहीं होता। इसी तरह आत्मा में दर्शन मोह का उदय होन से मिथ्यादर्शन परिणाम भी हो तो हो, पर यह मतिज्ञान विपरीत कैसे हो जायेगा? स्वभाव का विनाश तो न होना चाहिए। हीरा रत्न गिर गया अशुचिगृह में तो हीरा रत्न का स्वभाव तो नहीं बदल जाता। इसी प्रकार मति श्रुत अवधिज्ञान का भी स्वरूप न बदलना चाहिए। इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि जैसे कड़वी तूम्बी में दूध रख दिया जावे तो दूध की प्रकृति बदल जाती है या नहीं? बदल जाती है। दूध भी कड़वा हो जाता है तो इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि रूपी पात्र में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान हो तो वह भी दूषित हो जाता है। आधार के दोष से आधेय में दोष आ जाता है और उसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। तो जैसे कड़वी तूम्बी में रखा हुआ दूध दूषित हो जाता है ऐसे ही मिथ्यादृष्टि जीव में हुआ मतिज्ञान दूषित हो जाता है और देखा भी जा रहा है। मिथ्यादर्शन का उदय होने पर इस जीव के अन्यथा व्यापार होता है, अन्यथा याने अन्य प्रकार की इसकी दृष्टि बनती है। देखो जगत के प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में हैं। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के स्वरूप को ग्रहण नहीं करता। कभी भी नहीं कर सकता। निमित्त सन्निधान कितने ही हों, पर कोई पदार्थ अपना गुणपर्याय किसी दूसरे पदार्थ को नहीं दे सकता। वस्तुस्वरूप तो यों है, पर मिथ्यादृष्टि जीव के कैसी कल्पनायें होती है कि यह घर मेरा, ये पुत्र मित्र-स्त्री आदिक मेरे, इस तरह की उनकी कल्पना जगती

है। सो ये सब कल्पनायें मिथ्या हैं। वस्तुस्वरूप के विपरीत हैं तो इस तरह मतिश्रुत का परिणमन दूषित हो जाता है।

एक बात और समझनी चाहिए कि एक वृष्टान्त तो ऐसा मिल गया कि आधार के दोष से आधेय में दोष आता और एक उदाहरण ऐसा भी है कि आधार के दोष से भी आधेय में दोष नहीं आता। जैसे शंकाकर का दिया हुआ ही वृष्टान्त अशुचि घर में रत्न हीरा पड़ा हो तो वह तो स्वभाव नहीं बदलता। वह अशुचि घर हीरा रत्न में विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है। सो यह तो अपनी-अपनी योग्यता प्रकृति की बात है कि कोई पदार्थ दूषित आधार पाकर विकृत हो जाये, कोई पदार्थ दूषित आधार पाकर विकृत न हो, तिस पर भी इतनी मलिनता तो हीरा रत्न में आ ही गई कि वहाँ अशुचि बन गयी, उसमें भी कुछ न कुछ अन्यथापन आ जाता है। अन्यथा जो दूकान में रखा हीरा रत्न है उसकी तरह लोग उस हीरा रत्न को प्यार से क्यों नहीं जेब में रखते? क्यों उसे पानी से धोते, साफ करते अथवा उसे अग्नि दिखाते तो अन्यथापन वहाँ भी आ जाता है। विशेष अन्यथापन न आये, अन्य ढंग में अन्यथापन न आये, सो यह तो अपनी-अपनी वस्तु की योग्यता है तथा वह तूम्ही के सत्रिधान को पाकर दूषित हो तो कहीं तूम्ही ने अपने दोष दूध में नहीं डाल दिये, लेकिन उसका सम्बंध पाकर ऐसा ही परिणमन होता है कि दूध स्वयं अपने स्वरूप में विपरीत परिणम जाता है, दूषित हो जाता है। तो इस प्रकार मिथ्यादर्शन का उदय होने पर मतिज्ञान दूषित हो जाता है और वही मतिज्ञान सम्यग्दर्शन का उदय होने पर सम्यक् हो जाता है, क्योंकि मिथ्यादर्शन का परिणाम न रहा, इसलिए उन ज्ञानों में समीचीनता आती है। इस कारण सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन के उदय भेद से मति आदिक ज्ञानों में विभिन्नता हो जाती है। कोई सम्यक् रहता, कोई मिथ्या रहता।

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि द्वारा पदार्थों का एक समान दिखाई दिया जाने पर विपर्ययज्ञान की असंभवता की एक जिज्ञासा—अब यहाँ एक शंकाकार कहता है कि हम को तो मिथ्यादृष्टि के ज्ञान में और सम्यग्दृष्टि के ज्ञान में कोई अन्तर नहीं मालूम पड़ता। आंखों से जैसे मिथ्यादृष्टि देखता है वैसे ही सम्यग्दृष्टि देखता है। सफेद को सफेद मिथ्यादृष्टि भी कहता, सफेद को सफेद सम्यग्दृष्टि भी कहता। यह घड़ा है, यह मकान है, यह घर है, जैसे सम्यग्दृष्टि जानता। वैसे ही मिथ्यादृष्टि भी जानता। कहीं ऐसा तो नहीं देखा गया कि सम्यग्दृष्टि तो ऐसा पकवान खाता हो और मिथ्यादृष्टि ठेला पत्थर को रोटी मानकर चबा लेता हो? जब दोनों का ज्ञान समान लोक में देखा जाता है तो यह कैसे कहा गया कि सम्यग्दृष्टि का मतिज्ञान तो सम्यक् होता और मिथ्यादृष्टि का मतिज्ञान विपरीत होता है। ऐसी ही अवधिज्ञान की भी बात है। अवधिज्ञानी जीव जैसे अवधिज्ञान से रूपी पदार्थों को निश्चित करता है, जानता है वैसा विभंग ज्ञानी जीव भी रूपी पदार्थों को निरखता है, इसलिए विपरीतता है इन ज्ञानों में। यह बात तो युक्त नहीं जंचती। इस शंका के समाधान में ग्रन्थकार स्वयं ही सूत्र में उत्तर दे रहे हैं।

सूत्र 32

सदसतोरविशेषाद्यद्वच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥३२॥

दर्शनमोह के उदय से मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत तत्त्वों में समीचीनता का परिचय न होने के कारण ज्ञान में विपर्ययता की सिद्धि—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान क्यों विपरीत होते हैं? उसका कारण है कि सम्प्रकृत्व रहित जीव सत् और असत् पदार्थों में विशेषता नहीं जान पाता, भेद नहीं जान पाता। यह सत् ही है, यह समीचीन है, यह मिथ्या है, ऐसा भेद नहीं जान पाता और अपनी इच्छानुसार उनकी जानकारी रखता। अब ऐसी जानकारी रखते हुए में चाहे कभी वस्तुस्वरूप के अनुसार भी बोल जाये अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव तो भी भेदज्ञान न होने से, परिचय न होने से उसे दृढ़तम ज्ञान नहीं कह सकते, सम्प्रज्ञान नहीं कह सकते। और ऐसी स्थिति उस पागल पुरुष की तरह हो जाती है जैसे पागल पुरुष कभी माँ को स्त्री कह दे, कभी स्त्री को माँ कह दे और कदाचित् कभी माँ को माँ कहे और स्त्री को स्त्री कहे तो क्या उस समय वह पागल नहीं है? अरे कह तो दिया, पर उसके चित्त में दृढ़ता तो नहीं है निर्णय तो सही नहीं है। इसी तरह रूपादिक पदार्थों के जानने की बात तो लौकिक है। उसका तो यहाँ प्रकरण नहीं है, प्रकरण तो मोक्षमार्ग का है। मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्वों में यथार्थ परिचय श्रद्धान होवे उसका यह प्रकरण है। तो वहाँ मोही जीव का यथार्थ निर्णय और श्रद्धान नहीं है। कदाचित् किसी आवेश में धर्मावेश में वस्तुस्वरूप के अनुकूल भी शब्द बोल जाये, लेकिन उसका अनुभव तो नहीं है, इस कारण वह विपरीत ज्ञान है। अ सूत्र में लिखे हुए शब्दों के अनुसार अर्थ समझिये। सूत्र में लिखा है सत् और असत् तो सत् शब्द के तो अनेक अर्थ होते हैं। सत् अस्तित्व वाला है यह भी अर्थ है, सत् का अर्थ समीचीन भी है, सत् का अर्थ सत्ता भी है। तो प्रकरणवश सत् का अर्थ समीचीन लेना है, प्रशस्त लेना है। याने सत् का जानना, सही तत्त्व का जानना असत् को जानना, मिथ्यारूप को जानना। तो सत् और असत् में भेद न होने से और अपनी इच्छानुसार उपलब्धि होने से वह विपरीत ज्ञान होता है। किस तरह? उन्मत्त पुरुष की तरह। जैसे उन्मत्त पुरुष दोष का उदय होने से, दिमाग में फर्क आ जाने से, इन्द्रिय और बुद्धि अपहृत हो जाने से, बरबाद सी हो जाने से जैसे उन्मत्त विपरीत ही ग्रहण करता है। कहीं वह घोड़े को बैल मान ले, बैल को घोड़ा मान ले, लोहे को स्वर्ण कह दे, स्वर्ण को लोहा कह दे और कदाचित् लोहे को लोहा ही कहे, स्वर्ण को स्वर्ण कहे तो भी भेद का ज्ञान तो नहीं है, इसलिए कि उसकी बुद्धि बिगड़ी है और वह विपरीतग्राही है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव भी दर्शन मोह के उदय से बाह्यपदार्थों को आत्मारूप से निरखता है इसलिए वह विपरीतग्राही है। यों मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान विपरीत ज्ञान होते हैं।

इस सूत्र में जो सत् असत् शब्द कहे गये हैं उनके बहुत अर्थ होते हैं। जैसे कि सत् मायने विद्यमान और असत् अर्थात् अविद्यमान। विद्यमान और अविद्यमान पदार्थ में, धर्म की विशेषता न करके याने एक अविद्यमान को विद्यमान कहना, विद्यमान को अविद्यमान कहना ऐसी अपनी इच्छानुसार जानकारी करने से विपरीत ज्ञान होता है, क्योंकि उसने कभी सत् को असत् मान लिया, असत् को सत् और इस तरह सत् को सत् भी माने और असत् को असत् भी माने, किन्तु दृष्टि का प्रकाश तो नहीं है, इस कारण वे सब मति, श्रुत, अवधि मिथ्यज्ञान होते हैं। सत् को असत् कहना, असत् को सत् कहना, यह किस प्रकार है? उसका कुछ उदाहरण देते हैं।

गुणपर्यायरहित द्रव्य कल्पित करने वाले मन्त्रव्य में सत् असत् की अविशेषता का व्यामोह—एकान्तवादियों ने

अपनी कल्पना से जो सत् असत् का अविशेष रूप से ग्रहण किया है उनमें से देखिये कोई दार्शनिक तो द्रव्य को ही मानते हैं, रूपादिक को नहीं मानते। जैसे एक ही सद्ब्रह्म है, ब्रह्म है, आनन्दस्वरूप है आदिक शब्दों द्वारा कथन करके एक अद्वैत सत्ब्रह्म ही तो माना। रूपादिक अथवा अवस्था पर्याय ये कुछ भी तो नहीं माना। सो यदि द्रव्य ही द्रव्य है, रूपादिक नहीं है तो लक्षण का अभाव हो गया। उसका कोई स्वरूप, अवस्था मानते ही नहीं हैं। तो जब स्वरूप अवस्था आदिक नहीं मानते तो लक्षण तो कुछ रहा नहीं। तो जो द्रव्य कहा जा रहा है उस द्रव्य का भी अनवधारण हो गया। कोई निर्णय न हो सका। और यों भी सुनो। बाहरी चीजें तो हैं नहीं, केवल द्रव्य ही माना और उस द्रव्य का इन्द्रिय के साथ सत्रिकर्ष होता तब उसका ज्ञान होता है। तो जब इन्द्रिय से सत्रिकर्ष हुआ द्रव्य का तो रूपादिक तो माने नहीं, कोई अवस्था स्वरूप तो माना नहीं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि इन्द्रिय का द्रव्य के साथ सत्रिकर्ष हो गया तो सर्वात्मक रूप से सत्रिकर्ष हो गया, फिर तो द्रव्य की पूरे रूप से जानकारी होने का भी प्रसंग आना चाहिए। जैसे रूप मानते थे तो चक्षु का रूपमुखेन सत्रिकर्ष हुआ सो रूप ही जाना गया। अब रूपादिक तो कुछ रहे नहीं, तो इन्द्रिय से जो सत्रिकर्ष बना सो समूचे द्रव्य से बना और यों समूचे द्रव्य का ग्रहण हो जाना चाहिए। दूसरी बात यह कि इन्द्रिय का भेद भी न रहना चाहिए। समूचा द्रव्य चक्षु से भी जाना गया, समूचा द्रव्य स्पर्शन आदिक से भी जाना गया। फिर यह कैसे भेद बना कि यह तो चक्षुरिन्द्रिय है और यह स्पर्शनइन्द्रिय है, यह घ्राणेन्द्रिय है। जब रूप, रस, गंध, स्पर्श कुछ होते ही नहीं, यह मान लिया गया तो इन्द्रियभेद भी नहीं बन सकता, पर ऐसा तो सही है नहीं ना? इन्द्रियभेद है, पदार्थ में रूपादिक हैं, प्रतिनियत व्यवस्था चल रही है। चक्षुइन्द्रिय में रूप का ग्रहण होता है तो कैसे यह सत्य कहा जा सकता कि बस द्रव्य ही है, रूपादिक नहीं हैं। फिर भी कुछ दार्शनिक मानते हैं तो विपरीत हो गया ना? सत् को असत् और असत् को सत् कल्पित कर लिया ना। रूपरहित द्रव्य असत् है, उसे तो मान लिया सत् और रूपादिक हैं उनको मान रहे असत् तो ऐसा विपरीत ग्रहण होता है जिससे यह ज्ञान विपरीत ज्ञान कहलाने लगता है।

द्रव्यरहित पर्याय की कल्पना के मन्तव्य में सत् असत् की अविशेषता का व्यामोह—अब अन्य दार्शनिक की बात सुनो। कोई यह कहता है कि बस रूपादिक ही तो हैं, द्रव्य कुछ नहीं है। याने रूप, रस, गंध, स्पर्श बस ये ही वस्तु हैं, कोई प्रदेशात्मक, कोई अन्य आधार इसमें कुछ वस्तु है, ऐसा कुछ नहीं मानता तो भला सोचो? तो सही कि यदि रूपादिक ही वस्तु हैं द्रव्य कुछ है ही नहीं तो रूपादिक निराधार हो गए, फिर उनका आधार क्या रहा? केवल रूप ही रूप है, केवल रस ही रस है, आधार क्या रहा? जब आधार कुछ नहीं है तो रूपादिक का भी अभाव हो जायेगा और रूपादिक तो ये परस्पर विलक्षण धर्म हैं। रूप तो शुक्ल कृष्ण आदिक कहलाते हैं, रस खट्टा मीठा आदिक कहलाते हैं। ये तो परस्पर विलक्षण चीजें हैं तो वे रूपादिक फिर ये बिखरे-बिखरे फिरें। ऐसा क्यों है कि एक ही जगह रूप रस सब पाये जा रहे हैं। जब परस्पर विलक्षण हैं तो वे भिन्न ही भिन्न हैं और कहो कि नहीं, उनका समुदाय बन जाता, वे सब इकट्ठे पिण्ड के रूप में हो जाते तो उनका समुदाय भी हो तो यह बतलाओ कि वह एक ही वस्तु है कि भिन्न-भिन्न वस्तु है? अगर एक वस्तु हो गई तब फिर तो वे रूप रस आदिक भिन्न-भिन्न रूप न रहे और कहो कि भिन्न-भिन्न है पिण्ड होने पर तो वही

प्रश्न फिर खड़ा रहता है कि वह तो निराधार हैं। उनकी सत्ता ही क्या है? तो कोई दार्शनिक जो मानते हैं कि रूपक्षण, रसक्षण बस ये ही तत्त्व हैं, द्रव्य कुछ वास्तव में नहीं है तो वह भी देखिये—अविद्यमान को विद्यमान कर लिया, विद्यमान को अविद्यमान बना लिया। द्रव्य सत् है, उसे माना ही नहीं, रूपादिक स्वतंत्र ये सब असत् हैं, उनको वस्तु मान लिया, तो यही तो है उन्मत पुरुषों की तरह सत् और असत् में भेद न समझ पाना। और फिर जैसा मन चला वैसा ही कह देना।

भेदभेदविपर्यय की कल्पना के मन्तव्य में सत् असत् की अविशेषता का व्यामोह—इसी तरह भेदभेद में भी भेद का अन्तर का ज्ञान सही ज्ञान नहीं होता है मिथ्याज्ञानी के। जैसे जो कोई मानते हैं कि रूप भी है, द्रव्य भी है और माने यों कि हैं दोनों भिन्न-भिन्न रूप में अलग पदार्थ हैं तो ऐसा मानने वाले फिर कैसे समझ पाये कि यह द्रव्य है, यह रूप है। जब लक्ष्य लक्षण भाव न रहा परस्पर, वे भिन्न-भिन्न हो गए तो यह कैसे समझा जाये कि यह इसका रूप है, यह रूपवान है? यदि शङ्काकार दार्शनिक यह कहे कि जैसे दंडा और दंडी का ज्ञान होता है ना? लक्ष्य लक्षण भेद बन जाता। दंडी मायने दंडे बोला तो दंडा लक्षण हो गया और दंडे वाला पुरुष लक्ष्य बन गया और हैं भिन्न-भिन्न दोनों चीजें। दंडा जुदा है, दंडा वाला जुदा है। तो जैसे जुदी-जुदी इन दो वस्तुओं के होने पर लक्ष्य लक्षण भाव बन गया ऐसे ही रूपादिक और द्रव्य इनके भिन्न-भिन्न होने पर भी लक्ष्य लक्षण भाव तो बन ही सकता है।

इस आशंका का समाधान यह है कि दृष्टान्त ही विपरीत दिया गया। दंडा और दंडी आखिर ये सब पृथक्-पृथक् सत् ही तो है, दोनों ही वस्तु हैं। दंडा भी सत् है और पुरुष भी सत् है। तो दोनों पृथक्-पृथक् सत् हैं, उनके पृथक्-पृथक् लक्षण बन गए, क्योंकि सत् तो है, सम्बन्ध तो है, मगर पृथक्-पृथक् रूप और द्रव्य ये तो सत् ही नहीं हैं। द्रव्यरहित रूप क्या? रूपरहित द्रव्य क्या? रूपादिक जो अमूर्त गुण हैं उनका क्या सत्त्व है और रूपादिक रहित द्रव्य का क्या सत्त्व है और फिर दूसरा दोष यह है कि रूपादिक गुण तो अमूर्त हैं और वे द्रव्य से भिन्न हैं। पुद्गलद्रव्य मूर्ति के होता, रूपादिक अमूर्त हैं। तो अमूर्त रूपादिक के साथ इन्द्रिय का सम्बंध कैसे हो जायेगा? जब इन्द्रिय का सन्त्रिकर्ष न हो सकेगा। तो रूपादिक का अभाव हो गया, ज्ञान ही न बनेगा उनका। द्रव्य तो भिन्न हैं ना रूपादिक से तो उसके साथ तो सन्त्रिकर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता और द्रव्य है भिन्न चीज, वह कभी जानकारी में कारण नहीं बन सकता। तो इस तरह यह विपरीत रूप से ग्रहण किए विद्यमान को अविद्यमान कहने के लिए अविद्यमान को विद्यमान कह डाला। एक में भेद डाल दिया, सर्वथा भेद। तो ऐसे स्वरूपविपर्यय और भेदभेदविपर्यय के रूप से जानकारी जहाँ होती है वहाँ सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

कारणविपर्यय की कल्पना के मन्तव्य में सत् असत् की अविशेषता का व्यामोह—अब कारणविपर्यय की बात सुनो याने वस्तु का कारण कुछ है और कारण कुछ माने तो वह विपरीत ज्ञान कहलाता है। जैसे कोई दार्शनिक कहता है कि जितने भी जगत में जो कुछ दृश्यमान हैं घट रूपादिक जो कुछ भी जगत में हैं उसका कारण है अव्यक्त प्रकृति और कैसे रचना होती है इस जगत की? उसका क्रम यह है कि अव्यक्त से तो पहले महान् उत्पन्न हुआ, महान् से अहंकार हुआ और अहंकार से तन्मात्रायें हुईं याने स्पर्श रस आदिक, इनसे फिर इन्द्रियाँ

बनीं और इन्द्रिय से फिर महाभूत बना पृथ्वी जल आदिक, वहाँ मिट्टी का पिण्ड हुआ, उससे फिर घड़ा बना, ऐसे ही सब वस्तुओं में लगाना। तो इस सारे जगत का उत्पाद अव्यक्त प्रकृति से होता है।

अब देखिये—जो प्रत्येक वस्तु का निज द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है, जिसकी योग्यता से बाह्य निमित्त सत्रिधान मिलने पर परिणति होती है, उत्पत्ति होती है अवस्थारूप से उस सीधी बात को इसमें माना नहीं, क्या और कल्पना की? किसी एक अव्यक्त की। उस अव्यक्त से ये सब धीरे-धीरे बढ़-बढ़कर सृष्टि हो जाती है। तो यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि वह अव्यक्त प्रधान अमूर्त माना गया, अवयव रहित माना गया, निष्क्रिय माना गया, अतीन्द्रिय अनन्य नित्य और दूसरे के द्वारा प्रयोग में न आ सकने योग्य माना गया, और जितने ये कार्य दिख रहे हैं ये सब इस माने गए कारणभूत अव्यक्त प्रकृति से विलक्षण हैं। तब फिर विजातीय से विजातीय की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रधान अमूर्त है, घट मूर्त है, प्रधान अवयवरहित है, घट सावयव है। घट के हिस्से हुआ करते हैं। प्रधान निष्क्रिय है, घट क्रियावान है, कहीं से कहीं चला जाये। प्रधान को अतीन्द्रिय कहा, ये घट आदिक इन्द्रियागोचर हैं। प्रधान को अन्तरहित कहा। घट तो फूट जाता है, प्रधान नित्य है, घट अनित्य है। प्रधान किसी के द्वारा प्रयोग में आने योग्य नहीं है। क्या किया जाये प्रधान को? क्या खाने-पीने, मसलने आदि के काम में आयेगा प्रधान? कौन से प्रयोग में है? न दिखता है, न कुछ है, और घट प्रयोग में आने की चीज है। पानी भरें, पानी पीकर तृप्त हों। तो कल्पित कारण से घट आदिक की उत्पत्ति मानना, यह संगत बात नहीं है। तो जो वास्तविक कारण है उनको तो क्षण आदिक रूप से जानने की और और इच्छा से कल्पना करके कुछ से कुछ गढ़ लिया, ऐसी जहाँ दृष्टि होती है उसको सम्यग्ज्ञान कैसे कहा जा सकता है? वे सब मिथ्या ज्ञान हैं। तो जो प्रयोग में नहीं आ सकता, प्रयोजन जिसका कुछ नहीं उसकी तो कल्पना कर डाली और जो एकदम दृष्ट है, प्रत्यक्ष सिद्ध है, वस्तु है, जिसकी शक्ति से परिणमन होता है यह बात सब ओझल कर दी।

प्रयोगरहित निष्क्रिय कल्पित प्रधान पदार्थ से सिद्धि, निष्पत्ति, व्यवहार की असम्भवता—जो दूसरे के द्वारा प्रयोग में नहीं आ सकता ऐसा प्रधान और अचेतन माना गया। तो जो स्वयं अभिप्राय रहित है उसकी अभिप्राय पूर्वक उत्पत्ति कैसे हो सकती? कहा था ना कि अव्यक्त प्रधान से पहले महान् की उत्पत्ति होती है, वह महान् क्या है? बुद्धि अभिप्राय। अचेतन से अभिप्राय कैसे बने और अचेतन स्वयं अभिप्राय से रहित है, उससे अभिप्रायपूर्वक क्रम वाला उत्पाद कैसे सम्भव है?

यदि यह कहे कोई शंकाकार कि एक तत्त्व पुरुष तो माना गया है याने आत्मा में तत्त्व दो हैं—पुरुष और प्रधान। पुरुष मायने चेतन आत्मा, प्रधान मायने प्रकृति। सो यह चेतन आत्मा है, वह प्रधान को ऐसी प्रेरणा कर देगा कि वह महान् आदिक की उत्पत्ति करने के लिए तैयार हो जाये, सो वाह यह कहना भी कैसे संगत हो सकता? तब पुरुष भी निष्क्रिय माना गया है, जैसे प्रधान निष्क्रिय कहा है, ऐसे ही पुरुष को भी, आत्मा को भी इस दार्शनिक ने निष्क्रिय कहा है। तो निष्क्रिय होने से पुरुष भी प्रधान को प्रेरित नहीं कर सकता कि वह महान् आदिक के रचने के लिए तैयार हो जाये। और प्रधान स्वयं निष्क्रिय है ही, सो वह अपने को महान् आदिक के उत्पत्ति के लिए तैयार भी नहीं कर सकता। याने पुरुष प्रेरणा करें तो भी प्रधान अपनी सृष्टि नहीं

कर सकता और पुरुष स्वयं निष्क्रिय है, सो प्रेरणा कर ही नहीं सकता। जो स्वयं क्रियारहित है, लंगड़ा है, चल-फिर नहीं सकता वह अपना ही सहारा लेकर उठ करके चल दे, ऐसा नहीं देखा जा सकता। तो जब प्रधान स्वयं निष्क्रिय है तो वह अपने आप में ऐसा प्रयोग बना ले कि वह उत्पन्न करने लगे, यह नहीं बन सकता।

सारांश यहाँ यह है कि जैसे जीव और अजीव दो तत्त्व कहे जाते हैं, जिसमें चेतना है सो जीव, जिसमें चेतना नहीं सो अजीव, ऐसे ही इसके एवज में ये दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि पुरुष और प्रधान। पुरुष तो चेतन, प्रधान है अचेतन, और दोनों निष्क्रिय हैं। पुरुष तो कोई सृष्टि होती नहीं, याने आत्मा से कोई सृष्टि नहीं चलती। सृष्टि चलाने वाला है प्रधान, अजीव, प्रकृति। सो इस मान्यता में ये सब दोष आते हैं।

अप्रयोजन कल्पनाओं की भरमार की व्यर्थता—और फिर यह भी बतायें कि प्रधान तो अप्रयोजन है। उसका अभिप्राय नहीं, कोई प्रयोजन नहीं। तो बिना प्रयोजन महत् अहंकार आदिक की उत्पत्ति कर देना, यह संगत नहीं जंचता। प्रयोजन बिना तो साधारण भी आदमी बेवकूफ भी कुछ प्रवृत्ति नहीं करता। यदि शंकाकार यह कहे कि प्रधान का प्रयोजन तो है। क्या प्रयोजन है? भाई चेतन आत्मा प्रधानविकार को भोगोपभोग में ले। यह प्रधान का प्रयोजन है, याने प्रधान पहले रूप, रस इन्द्रिय आदिक की उत्पत्ति करता है, महान् अहंकार जो प्रधान से बनता है, उसका प्रयोजन यह है कि चेतन उसका भोग कर लें। यह कहना भी संगत नहीं। इसमें प्रधान का निज तो कुछ प्रयोजन न रहा। और दूसरी बात यह है कि आत्मा को तो नित्य माना सर्वथा तो नित्य व्यापक आत्मा के भोग का परिणाम ही नहीं बन सकता याने भोगने की स्थिति ही नहीं बन सकती। सो ये सारी बातें सीधी मानो। कार्यप्रणाली की बात को छोड़कर कल्पना करके एक दिमाग को परेशान किया जा रहा है। सीधी बात दोष की दिख ही रही है, इस कल्पना में कि प्रधान अचेतन है तो वह कुछ भी प्रयोजन बना कैसे सकता? दूसरे को भी भोग करा कैसे सकता? अचेतन है वह स्वयं। जो अचेतन हो, जैसे यहाँ रसोईया या कोई मालिक अपने व दूसरे के खाने का प्रयोजन रखता, सो उसके लिए क्रिया और फल बन जायेगा। रसोई बनाना, भोजन करना, पर प्रधान में तो चेतना है ही नहीं। वह किसलिए प्रवृत्ति करेगा? तो प्रधान, स्वयं अपने आप कुछ कर सकेगा नहीं और आत्मा निष्क्रिय है सो वह प्रधान की कुछ मदद कर सकेगा नहीं। फिर ऐसा समझना कि जितना जो कुछ भी जगत है उसकी रचना है, वह रचना सब अव्यक्त प्रधान से हुई है—केवल एक कपोल कल्पना मात्र है। तो यों पदार्थों के कारणों में विपरीत श्रद्धा करना बस यहीं तो क्रियादर्शन का परिणाम है और जब इन बातों की कोई विशेष सही जानकारी नहीं है तो बस इसी कारण मिथ्याज्ञान कहलाता। यों मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मिथ्यादर्शन का उदय होने पर ये मिथ्या कहलाते हैं।

स्वरूपविपर्यय, भेदभेदविपर्यय व कारणविपर्यय की कल्पना में मिथ्याज्ञानरूपता—अभी यहाँ कारणविपर्यय की चर्चा चल रही है कि जैसे सम्यग्दृष्टि जन स्वरूप में विपर्ययज्ञान रखते हैं कि वस्तु का स्वरूप तो है और कुछ और मान लिया जाता और कुछ तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है, क्योंकि उसमें जानकारी बिल्कुल विपरीत की गई है और इसी तरह भेदभेद विपर्यय की भी बात विपरीत ज्ञान में चली कि जो परस्पर भिन्न हैं उन्हें तो

मान लेते अभिन्न और जो अभिन्न है, एक है उसमें मान लेते भेद । जैसे रूप और द्रव्य, द्रव्य के मायने पुद्गल, वस्तु, जैसा कि लोगों को दिखता है सो वहाँ रूप को और द्रव्य को परस्पर भिन्न मान लिया रूप अलग, द्रव्य अलग, लेकिन ये अभेद में भेद मान बैठे, तो यह विपरीत बोध ही तो हुआ, इसी प्रकार जो भिन्न-भिन्न चीजें हैं उनको एक मान लेना यह भी विपरीत ज्ञान है, अनन्तानन्त परमाणु, अनन्तानन्त जीव और भी चेतन—ये परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, याने एक जाति का पदार्थ दूसरी जाति के पदार्थ से तो भिन्न है ही, मगर स्वजातीय भी अनेक पदार्थ हैं, परस्पर में भिन्न होते हैं, उन सबको एक कह डालते । सारे पदार्थों का समूह एक ब्रह्म है यह क्या? भेद में अभेद की भावना । तो यह भी विपरीत ज्ञान हुआ ना, इसी तरह कारणविपर्यय भी कहा जा रहा ।

जैसे एक उदाहरण दिया था प्रकृति से सारे संसार की उत्पत्ति मानने का । तो है नहीं ऐसा, फिर भी मान रहे तो यह कारणविपर्यय कहलाया । इस तरह स्वरूपविपर्यय भेदभेद विपर्यय और कारणविपर्ययरूप जानकारी होने से ये सब ज्ञानविपरीत ज्ञान कहलाते हैं । प्रथम अध्याय में उद्देश्य और पदार्थ के जानने के उपायों का वर्णन है । अधिगम के उपायों में प्रमाण और नय—ये दो मुख्य कुञ्जी बतायी हैं, जिसमें प्रमाण का वर्णन हो चुकने के बाद नय का वर्णन किया जाना चाहिए था, किन्तु ऐसा न कर प्रसंगवश प्रमाण के बाद ही एकदम प्रमाणाभास अथवा कुज्ञान का वर्णन करना पड़ा । जहाँ सम्यग्ज्ञान का वर्णन चल रहा था वहाँ थोड़े से ही शब्दों में विपरीत ज्ञान का वर्णन आ जाता है । तो बताया गया था कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान—ये तीन विपर्यय भी होते हैं, क्यों विपर्यय होते हैं? उसका कारण यह है कि अज्ञानी जीवों को सत् और असत् में भेदविज्ञान नहीं है । सत् को असत् कह दे, असत् को सत् कह दे, तो इसी भूल के तीन प्रकार बताये गए हैं—स्वरूपविपर्यय, भेदभेदविपर्यय और कारणविपर्यय । कारणविपर्यय की बात चल रही है कि कैसे-कैसे कौन लोग पदार्थ की उत्पत्ति के कारण बतलाते हैं? इस प्रसंग में एक मुख्य दार्शनिक ने मंतव्य तो बता दिया था कि अवक्तव्य से, समस्त जगत की उत्पत्ति मानते हैं । बहुत कुछ विचार कर दिया गया ।

कारणविपर्ययरूप कल्पना का एक और उदाहरण—अन्य कोई दार्शनिक कहता है कि जो कुछ दृश्यमान घट आदिक कार्य हैं उनका कारण तो परमाणु है, जो कि प्रतिनियत पृथ्वी आदिक जाति में विशिष्ट है । कोई पार्थिव है, कोई जलकायिक है, कोई अग्नि वाला है, कोई वायु वाला है । ऐसे भिन्न-भिन्न जाति के परमाणु हुआ करते हैं । उन परमाणुओं से घट-पट आदिक कार्यों के स्वरूप का लाभ होता है । कब ? जब इस योग्य अदृष्ट आदिक का सन्त्रिधान हो जाये सो उनके परमाणुओं का समुदाय बनकर फिर उनसे अन्य घट-पट आदिक कार्यों का आत्मलाभ होता है ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि परमाणु को नित्य माना गया है, और परमाणु जो कि नित्य हैं उनसे कार्य का प्रारम्भ नहीं हो सकता, क्योंकि जिसमें कुछ भी विकार नहीं, कुछ भी परिणाम नहीं बनता, ऐसा परमाणु कैसे अन्य पदार्थों का कार्य कर दे । तो नित्य परमाणुओं से कार्य का प्रारम्भ नहीं होता । अगर कार्य का प्रारम्भ उनसे माना जाये तो वह नित्य नहीं ठहर सकता और फिर दूसरी बात यह है कि परमाणुओं का लक्षण है और ढंग का और कार्यभूत घट-पट आदिक पदार्थों का लक्षण माना गया और ढंग का तो विजातीय परमाणुओं से अन्य प्रकार के कार्य का प्रारम्भ कैसे बन जायेगा? और अगर

कहो कि नित्य परमाणुओं से भी घट-पट आदिक कार्य हो जाते हैं तब तो इन पदार्थों में छोटे बड़े का भेद न रहना चाहिए। अब यहाँ जाति का भी प्रतिनियत नहीं बनता, क्योंकि भिन्न जाति वाले पदार्थों का भी उत्पाद देखा जाता है। कैसे? देखो पृथ्वी के परमाणुओं से पानी भी बन जाता। चन्द्रकान्त मणि अथवा अन्य ओला आदिक, तो भिन्न पदार्थों से भी कार्य बन जाता है। अगर कहे शंकाकार कि भाई जातीय पदार्थों में तो समुदाय मात्र ही कार्य है।

तो उसका उत्तर यह है कि फिर तो समान जाति वाले पदार्थों में भी कार्य का प्रारम्भ हो जाना चाहिए। यहाँ विचार चल रहा है इस बात का कि पदार्थ का कारण तो निश्चय से खुद ही है। स्वयं ही उपादान में अपने आपकी अवस्था प्रकट होती जाती है और निमित्त कारण अनुकूल बाह्य पदार्थ है और इस तरह से समस्त जगत कार्यों की उत्पत्ति चलाता जा रहा है, पर ऐसा न मानकर कोई दार्शनिक यह मानते हैं कि परमाणु है नित्य और उन परमाणुओं से जगत के पदार्थों की उत्पत्ति हो रही है। इस विषय पर विचार करें तो विदित होगा कि परमाणु घट पट आदिक पदार्थों का कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि परमाणुओं को निष्क्रिय और नित्य माना गया है। तो जो स्वयं निष्क्रिय है और नित्य है उससे कोई कार्य नहीं बन सकता। वह कभी कर्ता नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि फिर तो आत्मा का भाग्य कार्य हो जायेगा याने जिसका जैसा भाग्य है उसको वैसी चीज मिल जाती है, उसके लिए वैसी चीज बन जाती है, तो जीव का भाग्य कारण हो जायेगा, सो यह भी बात उन दार्शनिकों के उचित नहीं बनती। कारण यह है कि वे अदृष्ट आदिक गुणों को भी निष्क्रिय मानते हैं। वह किस तरह कि अदृष्ट याने भाग्य, यह है आत्मा का गुण और आत्मा है निष्क्रिय। तो जो निष्क्रिय का गुण है वह भी निष्क्रिय है। तो जब भाग्य भी निष्क्रिय हो गया तो वह किसी का कर्ता कैसे बन सकता और फिर जो निष्क्रिय पदार्थ है वह अपने में भी किसी क्रिया का कारण नहीं बन सकता। तो इस तरह कारणविपर्ययरूप से जानकारी जो रखते हैं उनके ज्ञान को सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता।

प्रत्येक सत् का स्वातंत्र्य और सत् के विकार में निमित्तनैमित्तिक भाव अपरिचित रहने से मन्तव्यों के गड़ने की विडम्बना—कुछ लोग मानते हैं कि वर्णादिक परमाणुओं का समुदाय स्वरूप जो रूप परमाणु है, अतीन्द्रिय है वह ही जब इकट्ठा हो जाता है तो इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य बन जाता है और तब फिर वे घट पट आदिक कार्यों के स्वरूपलाभ के कारण बन जाते हैं। शंकाकार का कहना कुछ यहाँ बल-सा रख रहा प्रतीत हो रहा है। इसका सिद्धान्त है कि दुनिया में रूप परमाणु अनन्त हैं, अतीन्द्रिय हैं और उन रूप परमाणुओं में वर्णादिक परमाणु और मिले हुए हैं। ऐसे ये रूप परमाणु जब इकट्ठे हो जाते हैं तो इन्द्रियग्राह्य हो जाता है जब तक न्यारे-न्यारे हैं तब तक भी इन्द्रियग्राह्य नहीं होते। जैन भी तो ऐसा मान लेते हैं कि जो एक परमाणु है उसका ज्ञान कोई नहीं करता, और वे ही अतीन्द्रिय परमाणु जब इकट्ठे मिल जाते हैं स्कंधरूप को धारण कर लेते हैं तो वे इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो जाते हैं। तो ऐसे ही यह रूप परमाणु भी समुदायरूप में होकर यह इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो जाता है। और इन्द्रिय द्वारा ग्राह्यपने का अनुभव करके फिर ये घटपट आदिक कार्य की उत्पत्ति के कारण बन जाते हैं।

इस शंका के समाधान में कहते हैं कि यह कथन भी इस कारण युक्त नहीं है कि जो यह माना कि प्रत्येक

रूप परमाणु वह अतीन्द्रिय है और उनसे मिलकर इन्द्रियग्राहीपना अनुभव कर फिर यह आगे कार्यरूप परिणाम जाता है, सो बतलाया यह कि प्रत्येक रूप परमाणु तो अतीन्द्रिय है और अतीन्द्रिय अतीन्द्रिय मिलकर कितने ही समुदायरूप में हो जाये उनसे भिन्न कार्य उनसे बन नहीं सकता, और जो कार्य होगा तो वह अतीन्द्रिय ही होगा । तो देखो रूप परमाणु अनन्त मिल गए, सो अनन्त मिलकर भी मानो कार्य बन गया तो वह कार्य अतीन्द्रिय ही रहा, इन्द्रियगोचर न हो गया । तो जब इन्द्रियगोचर कुछ हो ही न सकेगा तो फिर इन पदार्थों में यह सही है, यह झूठ है, यह प्रमाण हैं, यह प्रमाणाभास है, ये सब निश्चय न हो सकेंगे और तब यह कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती । तो जब कार्य नहीं है तो फिर कारण भी नहीं सिद्ध हो पाता । और भी बात सुनो—जो रूप परमाणु आदिक माने जाते हैं वे सब क्षणिक हैं और निष्क्रिय हैं, जो क्षणिक हैं वे कार्य के उत्पादक नहीं बन सकते । जब वे रूप परमाणु अनन्त हैं तो उनकी शक्तियाँ उनके अपने आप में हैं । किसी परमाणु की शक्ति किसी अन्य परमाणु में नहीं पहुंच सकती है । तो जब उनकी भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं तो उनका परस्पर में सम्बंध भी नहीं बन सकता । कोई कहे कि इन सब कारणपरमाणु का सम्बंध जुटाने में, इकट्ठा करने में ईश्वर को कारण मान लिया जायेगा, सो भी बात नहीं सम्भव है । अन्य कोई पदार्थ चेतन इन सबका सम्बन्ध नहीं बना सकते । इसलिए जब कारणपरमाणुओं का सम्बंध ही नहीं बन सकता तो दृश्यमान ये पदार्थ, यह कार्य कैसे सम्भव बन सकता है? तो इस तरह सत् असत् में विवेक न होने से मिथ्या ज्ञानियों का अप्रमाण ज्ञान रहा करता है ।

दर्शनमोह में स्वरूपविपरीत दर्शन होने से ज्ञानों में विपर्ययता—यह सब मिथ्या कल्पनाओं का ज्ञान मिथ्यादर्शन नाम के प्रकृति के उदय से हो रहा है, सो जानना चाहिए । जैसे कि जिन मनुष्यों को कभी-कभी पित्त ज्वर हुआ हो, पित्त की अधिकता होती है तो पित्त के प्रकोप से वे आकुलित हो जाते हैं और जब पित्त प्रकोप से आकुलित हुई इन्द्रियों में अन्य परिवर्तन हो उस समय ये इन्द्रिय थोड़ा जानती, खोटा जानती । तो पित्तोदय से आकुलित जिनकी रसनाइन्द्रिय हो गई तो जैसे उस रसना से विपर्ययज्ञान होता । कैसे? खाया मीठा, लगा कड़वा, तो इसी तरह मिथ्यात्व पित्त से आकुलित चित्त वाले जीवों को सत् असत् का विवेक नहीं रहता । और जब सत् असत् का विवेक नहीं रह पाता तो जो यह बात कही थी शंकाकार ने पहले कि मिथ्यादृष्टि के ये तीन ज्ञान अज्ञान नहीं कहला सकते, क्योंकि रूपादिक विषयों को जिस तरह सम्यग्दृष्टि देखता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी देख रहा है । फिर मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान कुज्ञान रहे और सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सम्यग्ज्ञान रहे, यह कैसे हो जायेगा? तो यहाँ तक यह बताया गया कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीवों के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान विपरीत भी होते हैं तब इनके नाम हुए कुमति, कुश्रुत व कुअवधि ।

नयों के वर्णन का प्रसंग—उक्त प्रकार प्रमाण के विषय में वर्णन समाप्त हुआ, अब इस समय चारित्र की बात कहनी चाहिए, क्योंकि किसी न किसी रूप से प्रथम अध्याय में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का वर्णन हुआ । अब सम्यग्ज्ञान के वर्णन के पश्चात् चारित्र का वर्णन किया जाना चाहिए । तो चारित्र का वर्णन न कर नयों का वर्णन किया जा रहा है । चारित्र का वर्णन तो आगे के अध्यायों में आयेगा । ९वें और १०वें अध्याय में चारित्र का वर्णन है । तो जब मोक्ष का प्रकरण चलेगा तब यह बतलाया जायेगा कि यह आत्मा व्युपरतक्रिया नामक

जब ध्यान को करता है और उससे आत्मबल प्रकट होता है तो वह आत्मबोध आत्मज्ञान, आत्मानुभूति, समस्त कर्म ईंधन को दहन करने में समर्थ होता है। तो मोक्ष के प्रकरण में चारित्र का वर्णन किया जायेगा। इस कारण यहाँ चारित्र का वर्णन न करके नयों का वर्णन कर रहे हैं, क्योंकि संकल्प यह किया गया था कि पदार्थ के जानने के उपाय दो हैं—(१) प्रमाण और (२) तप। सो इस विज्ञान से तप का वर्णन किया जाना तो कम प्राप्त है। यहाँ शङ्काकार कहता है कि कोई जीव क्षायक सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान से सहित भी हो जाये तो भी क्यों नहीं उसी समय कर्मों का क्षय हो जाता है? तो वही समाधान दिया जा रहा है यहाँ कि क्षायक सम्यग्दर्शन और क्षायक सम्यग्ज्ञान उत्पन्न भी हो गया तो भी व्युपरतक्रिया निवृत्ति नामक ध्यान जब तुक नहीं होता तब तक मोक्ष नहीं होता और वही व्युपरतक्रिया ध्यान उत्तमचारित्र कहा गया है। यदि उस सब चारित्र को यहाँ कहा जावे तो यह कह दिया और जब मोक्ष का प्रसंग आने को होता तो वहाँ भी कहना पड़ता, सो ग्रंथ गारव न हो जाये याने ग्रंथ में अप्रयोजन अधिक वर्णन न हो जाये इस कारण से प्रमाणाभास का यही कथन करने के बाद चारित्र का वर्णन नहीं किया गया, क्योंकि यहाँ चारित्र का वर्णन करते तो यहाँ भी यह कहना पड़ता और मोक्ष के प्रकरण में भी कहना पड़ता, इसलिए मोक्ष के प्रसंग में ही चारित्र का वर्णन कर देना ठीक है। यहाँ नयों का वर्णन करना उचित है। क्योंकि संकल्प भी यही किया गया था कि पदार्थों का अधिगम प्रमाण और नयों होता है। प्रमाण का वर्णन समाप्त हुआ, अब उसके अनन्तर नयों का वर्णन किया जाता है। नय कौन होते हैं, कैसे होते हैं, इसका निर्देश करने के लिए अब इस अध्याय का अंतिम सूत्र कहते हैं।

सूत्र 33

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥३३॥

नय के मूल दो भेदों के आधार पर नयभेदों का विस्तार—नय ७ हैं—नैगम संग्रह व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्दनय, समभिरूढ़ और एवंभूत। नय का अर्थ है प्रमाण से प्रकाशित अर्थात् ग्रहण किए गए पदार्थों का अभिप्रायवश किसी विशेष की प्ररूपण करना सो नय है। नय प्रमाण से ग्रहण किए गए पदार्थों में नय नहीं कहलाता। जैसे पदार्थों में अस्तित्व, नास्तित्व नित्यत्व, अनित्यत्व आदिक धर्म हैं, इन धर्मों सहित पदार्थों के जो विशेष हैं, पर्यायें हैं भेद हैं उनका प्रकर्ष रूप से प्ररूपण करने वाला अर्थात् जिसमें दोष न आये इस ढंग से दृष्टि लगाकर प्ररूपण करने वाला नय होता है। ऐसे नय के भेद नियत नहीं हो सकते। २-४-६-१० कितने ही लगाओ, संख्याते नय लग सकते हैं। जैसी दृष्टि वैसा ही प्ररूपण, उतने ही नय। और शब्दादिक की अपेक्षा से, परिणाम की अपेक्षा से अनगिनते नय कहे जा सकते हैं। शब्द की अपेक्षा से संख्या अर्थ और भाव की अपेक्षा से अनगिनते नय है, लेकिन बहुत थोड़े वर्णन से भी तीर्थप्रवृत्ति नहीं चल सकती। और बहुत अधिक वर्णन से बुद्धिमानों को जो कुछ थोड़ी प्रज्ञा रखते हैं साधारण बुद्धिजनों को उससे लाभ नहीं होता, उपकार नहीं होता। इसलिए न संक्षेप से भेद बताना चाहिए और न विस्तार से भेद बताना चाहिए, इस ही कारण इस सूत्र में नयों के ७ भेद कहें हैं, जिसके अन्तर्गत सभी प्रकार के नय शामिल हो जाते हैं। ऐसे नय के मूल भेद तो दो हैं—

(१) द्रव्यास्तिकनय, (२) पर्यायास्तिकनय । द्रव्य है इस प्रकार की बुद्धि जिसके होती है याने द्रव्य का अस्तित्व जिसकी बुद्धि में होता है याने उत्पत्ति सङ्घाव इस प्रकार विकार रूप से जिसकी बुद्धि होती है याने उत्पाद व्यय से रहित केवल द्रव्य ही दृष्टि में रहे, उससे अन्य भाव, विकार या अभाव न रहे, ऐसे आशय को द्रव्यास्तिकनय कहते हैं, और पर्याय ही है, ऐसी बुद्धि जहाँ है, जहाँ उत्पाद, भाव विकार ये सब मनन देखे जाते हों, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ द्रव्य नहीं है, क्योंकि पर्याय को छोड़कर द्रव्य नहीं पाया जाता । इस तरह पर्याय में ही मति है, वह पर्यायास्तिकनय है याने द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, गुण कर्म को देखने की दृष्टि जहाँ नहीं है उसे द्रव्यास्तिकनय कहते हैं । द्रव्यास्तिकनय में केवल अनादि अनन्त एकस्वरूप द्रव्य ही दृष्टि में होता है । गुण और कर्म ये अवस्था और भेद हैं, ये द्रव्यार्थिकनय के विषय नहीं हैं और पर्यायार्थिकनय में पर्याय ही जिसका प्रयोजन है । जैसे रूपादिक या क्रिया, यही जिसके विषय हैं, प्रयोजन हैं उससे अन्य कुछ द्रव्य नहीं, इस प्रकार की बुद्धि को पर्यायार्थिकनय कहते हैं । पर्याय का अर्थ है—परि समंतात् आयः पर्यायः याने जो चारों ओर से आता है, आये है, होना है वह पर्याय है, और द्रव्य का अर्थ है जो परिणमन को प्राप्त करे सो द्रव्य है । तो ऐसा द्रव्य ही जिसका अर्थ है याने कारण कार्य है, सर्वस्व द्रव्य ही जिस दृष्टि में है उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं, और पर्याय ही जिसका प्रयोजन है याने कार्य ही जिस दृष्टि में है, भूत भविष्य में रहने वाला द्रव्य नहीं है इस दृष्टि में वह सब पर्यायार्थिकनय है । सो इन नयों के ७ भेद होते हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, क्रज्जुसूत्र, शब्दनय, समभिरूढ़ और एवंभूत । नय के अनेक प्रकार से प्रकार बनते हैं, पर मूल बात यह समझनी चाहिए कि अभेद और भेद के आधार पर ही समस्त नय होते हैं । फिर इस अभेद और भेद के आधार पर नयों के कितने ही ढंग में प्रकार बनाये जायें, उनमें कुञ्जी यह है कि कोई नय भेद की ओर दृष्टि करा रहा है तो कोई नग अभेद की ओर दृष्टि करा रहा है ।

नय के भेद बताने के तीनों प्रकारों में भेदनय व अभेदनय का दर्शन—नय के भेद बताने के ये तीन प्रकार हैं—एक तो साधारणपद्धति, आगमपद्धति से जिसके भेद किए ही गए हैं ? नैगम संग्रह आदिक और एक होती है बुद्धिशब्दार्थपद्धति याने ज्ञाननय, अर्थनय, शब्दनय जो ज्ञान की मुख्यता से याने कल्पनारूप से केवल जाननरूप में ही ग्रहण दिया जाये सो है ज्ञाननय और जो पदार्थ का परिचय का परिचय किया जाये वह है अर्थनय, और शब्दनय की दृष्टि से निर्णय बने वह है शब्दनय । और एक पद्धति है अध्यात्मपद्धति । इस पद्धति में परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय अशुद्धनिश्चयनय और व्यवहारनय—ये चार भेद किए गए हैं । तो कोई भी ढंग से प्रकार हों नयों के उनमें भेद और अभेद ये सबमें पाये जाते हैं । जैसे नैगम में अभेद है और संग्रह में भेद है और व्यवहार की दृष्टि से अभेद है, व्यवहार में भेद है और क्रज्जुसूत्रनय की दृष्टि में अभेद है, ऐसे ही परमशुद्धनिश्चयनय अभेद है, शुद्धनिश्चय में भेद किया गया, क्योंकि शुद्धपर्याय का ग्रहण किया, मगर व्यवहार की तुलना में अभेद है, क्योंकि व्यवहार दो द्रव्यों को विषय करता है और शुद्धनिश्चयनय में द्रव्य केवल एक ही विषयभूत है और अशुद्धनिश्चयनय भी अभेद है और व्यवहार की तुलना में, किन्तु द्रव्य के पर्याय को देखने पर भेद हो गया । तो नयों में मूल में कुञ्जी ये ही दो हैं कि कोई नय भेदग्राही है और कोई नय अभेदग्राही है । तो नैगमनय किसे कहते हैं? नैगमनय का अभिप्राय है सत् और असत् दोनों को मिला देना, ऐसा अभेद सत् में असत् आ गया

।

जैसे कोई रसोईघर में अग्नि ही जला रहा और पूछता है कोई कि क्या कर रहे तो वह कहता है कि रोटी बना रहे । तो वहाँ सत् तो केवल अग्नि जलाने की बात है और रोटी वहाँ सत् है, मगर सत् असत् दोनों को मिलाता है, ऐसा अभेद है । यह नय एक व्यापक नय है और संग्रहनय में केवल सत् को ग्रहण किया है, असत् को नहीं लिया । व्यवहारनय ने उस सत् के भी भेद कर दिये । इस तरह सत् के भेद करते जायें तो सब भेदग्राही हैं । तो मूल नाम अभेदनय और भेदनय है, क्योंकि वस्तु तो एक अखण्ड है, इसलिए अभेद की बात तो एक सहज बात बनी, मगर वस्तु परिणमें बिना रहती नहीं है, तो परिणमन होगा अवश्य । तो जो परिणमन है सौ भेदरूप है । यों वस्तु में अभेद और भेद दोनों ही धर्म पाये जाते हैं । तो अभेदग्राही अभिप्राय को कहते हैं अभेदनय और भेदग्राही अभिप्राय को कहते हैं भेदनय ।

नैगमनय आदि सप्तनयों में भेद अभेद का दर्शन—तो नैगमनय के क्या विषय हुए? पदार्थ को संकल्प मात्र से ग्रहण करना सो नैगमनय है । जो निगम में होवे, कल्पना में होवे उसे कहते हैं नैगमनय, याने पदार्थ को संकल्पमात्र से ग्रहण करना । जैसे यह अमुक का घर है अथवा यह पंसेरा है, यह आधा सेरा है तो यह भेद भी सत् पदार्थ में नहीं आता । उसमें अभिप्राय से यह बात थोप दी कि इसमें आधा सेरा है, यह पंसेरा है । तो नैगमनय कल्पना मात्र से पदार्थ को ग्रहण करता है । तो नैगमनय भूत और भावी को मिलाता, अभेदाभेद को मिलाता, सत् असत् को मिलाता, इस तरह मिलकर जाने सो नैगमनय है । लोक में व्यवहार नैगमनय के आधार पर बहुत होता है, क्योंकि हर जगह संकल्प की मुख्यता रहती है । अब यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि यह तो भावी संज्ञा का व्यवहार है, नैगमनय तो नहीं हुआ । जैसे रसोई बनाना है । बना नहीं रहे अभी, लकड़ी कंडा आदि सामान रोटी बनाने के लिए रख रहे, मगर भविष्य में काम होने वाला है उसका व्यवहार किया जा रहा है । जैसे कोई एक ढाई सेर का लकड़ी का माप बनाया, जिसमें गेहूं भरे तो ढाई सेर आ जाये तो लोग पूछते हैं कि क्या है? तो कहते हैं कि यह आधा सेरा है । एक संकल्प कर लिया कि इसमें ढाई सेर अनाज आयेगा । तो यह भावों में होने वाली जो चीज है उस संज्ञा के नाम से व्यवहार है, इसमें नैगमनय की क्या बात आयी? ऐसी शंका हुई । उसमें समाधान करते हैं कि भावी संज्ञा का व्यवहार अलग है और नैगमनय का विषय अलग है, क्योंकि नैगमनय तो भूत में भी होता है और भूत द्रव्य तो अब मौजूद नहीं है । जैसे जो बात गुजर गई उसे अब कहा, जैसे आज दीवाली है, तो दीवाली का दिन गुजरे तो ढाई हजार वर्ष हो गए, अब आज कह रहे कि आज दीवाली है । तो पहले जो दिन गुजरा दीवाली का वह तो नहीं है, भूत द्रव्य का सन्त्रिधान नहीं है फिर वहाँ कैसे सम्बन्ध बना? भावी संज्ञा का व्यवहार बना । तो नैगमनय का विषय कोई सद्भूत चीज नहीं है, जिससे भावी संज्ञा का व्यवहार बने । एक संकल्प मात्र को ग्रहण किया है । संक्षेप में ऐसा समझें कि बात दो हैं—सत् असत् । असत् कोई चीज नहीं होती पर इसमें सत् नहीं आया । तो सत् और असत् दोनों को अभेद करके बना नैगम । केवल सत् का संग्रह, उससे बना संग्रहनय । अब सत् के भेद, उससे बनेगा व्यवहारनय और फिर उसके भी भेद कर पर्याय को देखा तो बना ऋजुसूत्रनय ।

अब देखते जाइये कि ये नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म-सूक्ष्म होते जा रहे हैं। अब ऋजुसूत्रनय के विषय में अनेक शब्दों को बोला जाता था, अब उसे एक शब्द से बोला तो हो गया शब्दनय। जैसे—पुरुष, मनुष्य, जन कई नाम हैं। किसी भी नाम से बोले। तो ऋजुसूत्रनय तो स्वीकार कर लेना था कि किसी भी शब्द से बोलें, चीज बोलना चाहिए, पर शब्दनय कहता है कि अगर कोई मनुष्य आलसी है तो उसे मनुष्य नहीं कह सकते। कोई पुरुष विवेकरहित है तो उसका नाम मनुष्य नहीं हो सकता। तो मनुष्य का अर्थ है श्रेष्ठ मन वाला। पुरुष का अर्थ है पुरुषार्थ। तो शब्द के भेद से इनमें भी भेद कर देवे शब्दनय। और एक शब्द के अनेक अर्थ होते, उनमें से किसी एक अर्थ को ही ग्रहण करे तो समभिरूढ़नय और जिसकी बात कही जा रही जिस क्रिया की उसी क्रिया में उसका नाम लेवे तो एवंभूतनय। तो इस तरह उत्तरोत्तर ये नय सूक्ष्म-सूक्ष्म होते चले जाते हैं। तो अभेद और भेद बस इनका विन्यास है समस्त नयों के अन्दर। इससे अपने को सुगमता क्या मिलती है कि प्रमाण से एक बार पदार्थ को जाना गया, फिर और विशेष निर्णय करने के लिए नयों का सहारा लिए, विशेष विशेष जानते चले। इस तरह नय के ये ७ भेद बताये गए हैं।

बुद्धिशब्दार्थपद्धति के नयों का विवरण—अन्य प्रकार से भी नयों के भेद होते हैं जिसका अभी विवरण किया गया है संक्षेप में कि ज्ञाननय, शब्दनय, अर्थनय। जैसे भगवान कहा तो मन में संकल्प बना, वह है ज्ञानभगवान और भ ग वा न ये शब्द बोला तो यह हुआ शब्दनय, और जो परमात्मारूप भगवान है वह अर्थभगवान है। इस तरह ये तीन नय सबमें मिलेंगे। तो समझो कि निश्चय से न तो शब्दभगवान की उपासना कोई करता, न अर्थभगवान की उपासना करता, किन्तु ज्ञानभगवान भक्त की पर्याय है, इस ज्ञानभगवान से ही उपासक का लगाव हो सकता है। ज्ञाननय में तो नैगमनय आता है, क्योंकि नैगमनय कहते हैं संकल्पमात्र से पदार्थ को ग्रहण करने वाले को। तो संकल्प ज्ञान का ही तो अवयव है। तो ज्ञाननय मायने नैगमनय, शब्दनय मायने शब्दनय, समभिरूढ़ और एवंभूत, क्योंकि इन तीन नयों का शब्द की विधि से अर्थ होता है, और अर्थनय मायने हैं संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्रनय। इस तरह ज्ञाननय, शब्दनय, अर्थनय में ७ नय आ जाते हैं। ज्ञाननय तो ज्ञान की वजह से है तो उसकी मुख्यता नैगमनय में है और अर्थनय में पदार्थ की मुख्यता है। तो संग्रहनय में पदार्थ है, व्यवहारनय में पदार्थ है, उन्हीं का संग्रह पदार्थ में यहाँ किया। ऋजुसूत्रनय में भी पदार्थ है, क्योंकि पर्यायमुखेन पदार्थ को जाना। इस तरह ये तीन नय बताये गए।

अध्यात्मपद्धति से नयों के प्रकारों का विवरण—अब इसके बाद एक पद्धति समझिये अध्यात्मपद्धति। अध्यात्मपद्धति में मूल दो नय हैं—अभेदनय, भेदनय। जो अभेद को ग्रहण करे उसे कहते हैं अभेदनय। जो भेद को ग्रहण करे सो भेदनय। इस आधार पर निश्चयनय तो अभेदनय है और व्यवहारनय भेदनय है। यह स्थूलदृष्टि से कह रहे हैं। निश्चयनय के तीन भेद हैं—(१) परमशुद्धनिश्चयनय, (२) शुद्धनिश्चयनय, (३) अशुद्धनिश्चयनय। परमशुद्धनिश्चय नय के मायने गुणभेद नहीं, पर्यायभेद नहीं, किन्तु अनादि अनन्त एकस्वभाव रूप पदार्थ को देखना। आत्मा तो अभेद ही है। शुद्धनिश्चयनय का अर्थ है कि शुद्ध पर्याय को देखना, मगर वहाँ निमित्त आदिक न निरखना। शुद्ध पर्याय है, द्रव्य की है, वह द्रव्य से प्रकट हुई है। द्रव्य में हैं याने उसका पटकारकपना उस ही एक पदार्थ में लगता हुआ जानें तो शुद्धनिश्चयनय का है। जैसे भगवान का

केवलज्ञान, प्रभु केवलज्ञानी हैं। तो अब उसे इस तरह देखना कि प्रभु की स्वाभाविक पर्याय है, प्रभु से हुई है, प्रभु ने की है, प्रभु की ही ज्ञानसाधना से हुई है, उसका फल प्रभु ही पाते हैं। प्रभु के प्रथम केवलज्ञान के बाद द्वितीय केवलज्ञान हुआ है और प्रभु की आत्मा में ही यह पर्याय है। इस तरह शुद्ध आत्मा की पर्याय को उस ही द्रव्य से सम्बंध रखते हुए निरखें तो शुद्धनिश्चयनय है। अब यहाँ यह समझने की बात है कि अभेद ढंग है ना इसमें कि शुद्ध आत्मा की यह पर्याय है, वहाँ से प्रकट हुई है, वहाँ है, इस तरह एक अभेद नहीं किया गया, इसलिए तो निश्चयनय है और चूँकि द्रव्य और पर्याय को भेद कर डाला, इसलिए व्यवहारनय हो जाता है। शुद्धनिश्चयनय व्यवहारनय बन जाता है, तब यह दृष्टि देते हैं कि इसमें तो इतने भेद किए गए परमशुद्ध निश्चयनय का जो विषय है उसकी अपेक्षा से तो शुद्ध निश्चय व्यवहार है। अशुद्धनिश्चयनय अशुद्ध पर्याय को देखता, मगर उस द्रव्य के भेद कर देखता। जैसे अशुद्ध जीव की रागपर्याय। यह जीव रागी है। जीव को ही राग हुआ, जीव में राग हुआ, जीव के ही परिणामों से राग हुआ, जीव के लिए राग हुआ। सब कुछ जीव में ही उस राग पर्याय की बात दिखी। वहाँ निमित्त न दिखा कि कर्म के उदय से हुआ तो वह शुद्ध निश्चयनय हैं। और जहाँ निमित्त दिखा कर्म का उदय का निमित्त पाकर राग पर्याय हुई तो यह व्यवहार बन गया, क्योंकि जहाँ दो द्रव्यों की दृष्टि हुई तो वह व्यवहार कहलाता है। तो यों परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय—ये तीन तो निश्चयनय हैं और इसकी पद्धति अभेद विधि है। और जहाँ दो द्रव्य या एक द्रव्य का दूसरे पर प्रभाव जैसी बात, निमित्त आदिक कथन यह सब व्यवहारनय कहलाता है। तो इन नयों से वस्तु का परिचय हुआ करता है। आत्मा कैसा है कैसा बनता रहता है, यह सब परिचय नयों के ज्ञान से बनता है। अब नैगम आदिक जो नय हैं उन ७ नयों का इन अध्यात्मनयों से मेल किया जाये तो अभेद विधि से जाना गया तो नैगम संग्रह व्यवहार यह निश्चयनय में गर्भित होगा, और भेदविधि से जैसे व्यवहारनय यह व्यवहारनय में गर्भित होगा। ऋजुनय यह शब्दनय, समभिरूढ़नय, एवंभूतनय—ये व्यवहार में भी गर्भित होते और कोई अभेद विधि बन जाये तो निश्चयनय की भी झलक होती है।

नैगमनय व संग्रहनय का एक अध्ययन—सूत्र में कहे गये ७ नय ये पदार्थों के अधिगम करने के भले उपाय हैं। इनको नैगमनय तो संकल्प से ग्रहण करता जिसे आग ही सिलगा रहे हैं, और कोई कहता कि क्या करते? तो कहते कि रसोई बनाते, रोटी बनाते। इसको भावी संज्ञा का व्यवहार नहीं कह सकते। जैसे कोई कहे कि राजा का पुत्र है और उसे कोई राजा कहता है तो चूँकि आगे राजा होगा, इसलिए उस कुमार में राजा का व्यवहार है? ऐसा नैगमनय का विषय नहीं है, क्योंकि वैसे तो राजपुत्र मौजूद है जिसमें कि भावी संज्ञा का व्यवहार है, पर यहाँ तो कुछ मौजूद ही नहीं हैं नैगमनय में। न चावल रखे, न रोटी रखी, लकड़ी जला रहे और फिर उसमें व्यवहार है तो केवल संकल्प का व्यवहार है, इसलिए नैगमनय का विषय अलग है। संग्रहनय में सर्व पदार्थों का संग्रह है। अपनी जाति का विरोध न करके सब पदार्थ आ जायें, वह संग्रहनय है। जैसे कह दिया सत् तो सत्त्व के नाते से सब पदार्थ आ गए। द्रव्य द्रव्य के नाते सब पदार्थ आ गए। चाहे घट हो, पट हो, जीव हो, धर्म, अधर्म, आकाश सभी सत् हैं। अब संग्रहनय में दो किस्म होते हैं—एक तो होता है परसंग्रह याने जिसको भेद नहीं, पूर्ण संग्रह कहो। जैसे सत् द्रव्य अर्थ बस यह ही शब्द है जिससे कि सबका

संग्रह हो जाता है और दूसरा संग्रहनय है अपरसंग्रह । जैसे सत्, उसके दो भेद है—(१) जीव और (२) अजीव । अब जीव यह अपरसंग्रह बन गया । मायने जीव में सब जीव तो आ गए, मगर सभी चीज नहीं आयी, इसे कहते अपरसंग्रह । एक परसंग्रह, एक अपरसंग्रह ।

अब भेद करते जायेंगे तो भी भेद के अन्दर भी संग्रह जुड़ा रहता है वह अपरसंग्रह । जैसे—जीव के दो भेद हैं—(१) संसारी और (२) मुक्त । तो यह तो हो गया व्यवहार । जीव के आगे तो हो गया व्यवहार, क्योंकि उसके दो भेद किए—संसारी और मुक्त, मगर अब संसारी अकेला ही देखे तो यह हो गया संग्रहनय मायने संसारी जीव में भी बहुत से जीव हैं । जैसे संसारी दो तरह के हैं—त्रस और स्थावर तो त्रस और स्थावर ये दो नाम रखा तो संसारी के आगे व्यवहार बन गए, क्योंकि भेद कर डाला संसारी के । अगर एक उसमें से त्रस ले लिया तो त्रस तो संग्रह बन गया, किन्तु त्रस में अनेक त्रस आ गए । इस तरह संग्रहनय, अपरसंग्रहनय बनते चले जाते हैं । पूर्ण संग्रह की बात देखिये सत्, ऐसा कहने से सभी पदार्थ आ गए ।

सत् का स्वयं सहज स्वरूप सत्त्व—सत् के विषय में एक दार्शनिक का ऐसा मत्व है कि जगत् के पदार्थ अपने आप सत् नहीं हैं, किन्तु इन में सत्ता जुड़ी तो ये सत् कहलाये । सत् मायने ‘है’ तो ये पदार्थ जब सत् हैं तो इनमें सत्ता का सम्बन्ध हुआ । अब हर एक आसानी से समझ सकता है कि पदार्थ में क्या सत्ता का सम्बंध हुआ करता है? पदार्थ की सत्ता है—यह तो व्यवहार से कहते हैं, पर है तो स्वयं सत् । कोई पदार्थ है तो अपने आप है । कहीं ऐसा नहीं है कि उसमें सत्ता का संबंध जुड़े तब वह सत् कहलाये । जैसे मनुष्य है, अब मनुष्य में मनुष्यत्व हुआ करता । तो क्या ऐसा है कि मनुष्यत्व का उसमें सम्बंध जुटाये तब मनुष्य कहलाये? अरे वह हैं मनुष्य तो मनुष्य है ही अपने आप । उसका जो विचार है, भाव है वह मनुष्यत्व है । तो ऐसे ही सब पदार्थ खुद सत् हैं । कहीं यह नहीं कि पदार्थ में सत्ता का सम्बंध लगाया गया हो तो सत् कहलाये । अगर पदार्थ में सत्ता का सम्बंध लगाने से सत् कहलाये तो यह बतलाओ कि जब सत्ता का सम्बंध न हुआ था उससे पहले यह सत् था या नहीं? अगर पहले सत् था तो सत्त्व था ही, फिर सत्ता का सम्बन्ध जोड़ने की क्या जरूरत रही? अगर कहो कि सत् न था तो सत्ता का सम्बंध किससे जोड़ना? वह तो था ही नहीं । तो जो चीज है वह स्वयं है, अपने आप है, कोई सत्ता का सम्बंध जोड़ने से नहीं है । कितने सत् हैं? अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात् कालद्रव्य । ये सत् अपने आप सत् हैं, अनादि से हैं । कभी नष्ट न होगे । अच्छा फिर थोड़ा यह भी सोच सकते कि सत्ता का सम्बंध जुड़ जाये तो उससे सत्तावान कहना चाहिए, न कि सत् कहना चाहिए : जैसे धन का सम्बंध जुड़ गया तो उसे धनवान कहते हैं न कि स्वयं धन कहते हैं ।

जैसे गाय का सम्बंध हो गया तो गाय वाला कहेंगे, गाय न कहेंगे मनुष्य को, ऐसे ही ये पदार्थ अगर सत्ता के मेल से सत् कहलायें तो सत्ता का मेल होने से सत्तावान कहना चाहिए, न कि सत् । तो सभी पदार्थ खुद सत् हैं, कोई सत्ता के सम्बंध से सत् नहीं हैं ।

सत् के छहों साधारणगुणों की सत् से अनन्यता—यहां यह बात समझनी कि जो सत् होता है वह स्वयं सत् है, इसका नाम है अस्तित्व । गुण यह गुण पदार्थ का ही है और अपने स्वरूप से सत् है, पररूप से सत् नहीं,

क्योंकि व्यक्ति तो अनन्त हैं, जीव अनन्त हैं, पुद्गल अनन्त हैं। तो प्रत्येक जीव अपने स्वरूप से है, दूसरे के स्वरूप से नहीं है। प्रत्येक परमाणु अपने स्वरूप से है, दूसरे के स्वरूप से नहीं है। मगर सब सत्ता की दृष्टि से सत् कहलाते हैं। कहीं ऐसा नहीं कि सारे पदार्थ मिलकर कोई एक सत् कहलाते हों और फिर ये उसके अनुकूल हों। प्रत्येक पदार्थ जुदे-जुदे हैं, पूर्ण-पूर्ण सत् हैं। उनका काम उन ही में अपने में अकेले में होता है और उनको जाति अपेक्षा से कह दिया कि ये सब सत् हैं। तो जो सत् होता, जो पदार्थ होता वह अपने स्वरूप से सत् है, पर रूप से सत् नहीं। जो पदार्थ होता वह निरन्तर परिणमता रहता है। कोई समय ऐसा नहीं हो सकता कि जिस समय कोई परिणमन न हो। कोई सा भी पदार्थ हो, प्रतिसमय वह परिणमता रहेगा। तो यों अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व गुण की बात आयी। अब आगे चलें तो प्रत्येक पदार्थ अपने रूप से परिणमता है, पररूप से नहीं परिणमता। जीव है वह अपने ही चैतन्यरूप से परिणमेगा, दूसरे के चेतन से न परिणमेगा, पुद्गल आदिक के स्वरूप से न परिणमेगा। यह है उसका अगुरुलघुत्व गुण। और सत् जितने होते हैं चाहे एकप्रदेशी हों, चाहे अनेकप्रदेशी हों, चाहे अनन्तप्रदेशी हों। प्रदेश बिना पदार्थ हो ही नहीं सकता। है तो उसका कुछ निजी क्षेत्र तो है। तो प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान होता है और जब प्रदेश है तो प्रमेय होता। जो है वह प्रमेय है, ज्ञेय है, जानने में आता है। जो नहीं वह क्या जानने में आये? जो है ही नहीं, वह कभी जानने में आ ही नहीं सकता। है ही नहीं। क्या है जानना? भले ही ऐसा लगता कि जैसे मानो गधे के सींग तो नहीं होते, मगर जानने में आ जाते। कभीकभी तो कल्पना में दिखते हैं—गधा है, सींग बैठाल लिया अपनी कल्पना से उसके सिर पर तो ऐसा कुछ भी सोचा जाये, वहाँ सर्वथा असत् कुछ नहीं सोचा जा रहा। सींग तो होते हैं दुनिया में, बस उसकी कल्पना कर ली। जो कुछ है ही नहीं उसकी कल्पना ही नहीं उठ सकती। न उसके कोई शब्द ही हुआ करते। तो जितने सत् हैं जो पदार्थ हैं वे प्रमेय हुआ करते हैं। भले हो यह बात है कि हम लोगों को छोटा ज्ञान है तो हम सत् को नहीं जान सकते, मगर जो सत् है वही जाना जा सकता है, अन्य कुछ नहीं। यह नियम समझना है, यह बात प्रमेयत्व गुण बतलाती है तो इस तरह जो भी पदार्थ है उस पदार्थ में ६ साधारण गुण होते हैं—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व और प्रमेयत्व तो अभिन्न ६ गुण सहित पदार्थ होते हैं और वे पदार्थ सब सत् कहलाते हैं। तो एक सत् ऐसा कहने में सर्व का संग्रह हो गया। यह हुआ संग्रहनय।

नयों के विषय की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता के प्रकरण में नैगम व संग्रहनय का हृदय—एक बात और समझनी है कि इन ७ नयों में पहला नय तो स्थूल है, दूसरा नय उससे सूक्ष्म है, तीसरा उससे सूक्ष्म है, इस तरह सूक्ष्मसूक्ष्म होते जाते हैं एवंभूतनय तक। तो ये स्थूल कैसे स्थूल हैं कि उसे सत् और असत् दोनों का मेल कर दिया। सर्वथा असत् का मेल नहीं होता, किन्तु जो वर्तमान में नहीं विद्यमान है उसका और जो वर्तमान में विद्यमान है उसका मेल कर दिया। जैसे चावल धो रहे हैं और कह दिया कि भात बना रहे हैं या आटा गूँथ रहे और कह दिया कि रोटी बना रहे, तो उस समय अभी रोटी तो नहीं बनी, रोटी पर्याय तो आगे की है और वर्तमान में आटा है तो आटा में रोटी का मेल बना दिया कहने में कि रोटी बना रहे। तो सत् में असत् का मेल किया, यह तो हुआ नैगमनय। अब उसमें से केवल सत् सत् को ग्रहण करें असत् को छुवें ही नहीं तो

हो गया संग्रहनय । तो सूक्ष्म विषय हुआ इसमें । नैगमनय से तो सत् असत् दोनों ग्रहण में आये और संग्रहनय से सिर्फ सत् ग्रहण में आया और व्यवहारनय से सत् का भी भेद करेंगे । जैसे सत् में चेतन अचेतन दो भेद हैं तो वे सूक्ष्म बन जायेंगे । इस तरह से ये नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म बनते चले जाते हैं ।

अब इसमें अनेक दार्शनिक तो ऐसे हैं कि जो एक सत् ही ब्रह्म है याने सारा जगत एक सत् है, उसे ब्रह्मरूप कहते । कोई ज्ञानरूप कहते, कोई शून्यरूप कहते । कोई कहते कि एक ही है, यह संग्रहनय का एकान्त है । कैसे एकान्त किया कि वास्तविकता तो यह थी कि चीजें तो अनेक हैं और वे अनेक चीजें एक जाति की होने से एक कहलाती थी । जैसे—जीव । जीव अनन्त हैं, वे सब अनन्त जीवत्व के नाते से जीव कहलाते हैं । जैसे गेहूं का ढेर पड़ा है तो गेहूं तो अनेक हैं, पर गेहूं गेहूं की जाति से उस सारे ढेर को एक कह देते हैं । यह गेहूं किस भाव का है, और हैं गेहूं उसमें बहुत, मगर एकवचन का प्रयोग करते हैं । तो ऐसे ही संग्रहनय अनेक चीजों का संग्रह करता है, न कि सब एक ही हैं । जो लोग मानते कि सब कुछ एक ब्रह्म है उन्होंने संग्रहनय का एकान्त किया । जो कि स्याद्वाद से विरोध है । संग्रहनय तो अनेक व्यक्तियों का एक जाति रूप से संग्रह करता, ऐसा अगर देखें तब तो सही है, कह दें एक ब्रह्म क्या हर्ज है? मगर जाति अपेक्षा कहें तो सही है और ऐसा ही मान लें कि सब कुछ एक ही ब्रह्म है तो दूसरा कुछ है ही नहीं अन्य, तो यह तो केवल एक स्वप्र की बात है, झूठ है, मिथ्या है । तो यह मंतव्य ठीक न रहा । स्याद्वाद विधि से समझने से सारे मंतव्य सही हो जाते हैं और स्याद्वाद को छोड़ दें तो सब मिथ्या हो जाते हैं । तो संग्रहकनय अनेक सत् का संग्रह किया ।

नयों की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता के प्रकरण में व्यवहारनय का हृदय—अब द्रव्यार्थिकनय का तृतीय भेद व्यवहारनय है उसका वर्णन करते हैं । व्यवहार का अर्थ है वि अवहार, वि मायने विधिपूर्वक, अवहार मायने अवहरण करना याने संग्रहनय से विधिपूर्वक अवहरण करना सो व्यवहार है । संग्रहनय से जिन अर्थों का ग्रहण किया गया था उनके भेदरूप से जानकारी करना यह व्यवहार कहलाता है । यह व्यवहारनय पर्यायार्थिकनय नहीं है, द्रव्यार्थिकनय है, इसलिए पर्याय की प्रधानता से इसे नहीं जाना जा रहा, किन्तु जाना जा रहा है द्रव्य की प्रधानता से, किन्तु अवहरण किसी न किसी अंश में पर्याय को किए बिना नहीं होता पर व्यवहारनय की दृष्टि द्रव्य पर है । संग्रहनय से ग्रहण किए हुए का विधिपूर्वक अवहरण करना, इसमें विधि का क्या मतलब है, याने संग्रहनय से जो ग्रहण किया गया पदार्थ है वही आनुपूर्वी रूप से उसका व्यवहार बन सके, इस तरह की विधि होती है । जिस सर्व संग्रहनय ने अर्थात् परसंग्रहनय ने सत् को ग्रहण किया था । अब सत् इतना ही मात्र कहा, उसमें विशेष की अपेक्षा न रहे तो उससे व्यवहार तो नहीं बन सकता है । प्रयोग न होगा, काम न होगा, इस कारण से व्यवहार का आश्रय किया जाता है । तो उस सत् के विशेष समझने के लिए दो रूप रखें—द्रव्य और गुण । यहाँ सत् नाम है द्रव्य गुण का अभेद एक भावरूप सत् और उस सत् का जो द्रव्य और गुण भेद किया है तो उसमें द्रव्य के मायने तो है एक अन्वयरूप तत्त्व और गुण के मायने हैं अन्वयशक्तिरूप तत्त्व । तो संग्रहनय जहाँ सत् को विषय करता है वहाँ द्रव्य और गुण की चर्चा हो तो व्यवहार है । अब द्रव्यगुण में से एक द्रव्य को एक इकाई में रखा जाये याने संग्रह से आक्षित किए गए द्रव्य के द्वारा याने जिसमें जीव अजीव की विशेषता न लगाई जाये उस विशेषता की अपेक्षा के बिना उस संग्रहनय का ग्रहण किये गये द्रव्य के द्वारा भी व्यवहार नहीं बनता

। तब उस जीव का विधिपूर्वक अवहरण करना, भेद करना कि वे द्रव्य जीवद्रव्य और अजीव द्रव्य दो प्रकार के हैं, ऐसे दो प्रकार कर लेने से अब इसका व्यवहार बनने लगता है । अब जीव और अजीव का संग्रहनय से ग्रहण किया । यह संग्रहनय जिस आशय से ग्रहण किया गया उस जीव अथवा अजीव से भी व्यवहार नहीं बनता । तो फिर जीव के भेद किए जाये देव नारकी

तिर्यच मनुष्य अथवा अजीव के भेद किए जायें घट पट आदिक तो लो अब उसके अनुकूल व्यवहार बनने लगा और लो यों व्यवहार का आश्रय हो गया । चीज वही है । विशेष की अपेक्षा न हो तो व्यवहार नहीं बनता । विशेष की अपेक्षा बन जाये तो व्यवहार बनता । जब तक विशेष की अपेक्षा नहीं तब तक वह संग्रहनय का विषय है और जहाँ विशेष की अपेक्षा हुई कि व्यवहारनय का विशेष होता है । अब नय का निष्केपों के साथ कैसा मेल होता है? तो निष्केप हैं चार, नामनिष्केप, स्थापनानिष्केप, द्रव्यनिष्केप और भावनिष्केप—इन चार निष्केपों में तो नाम स्थापना, द्रव्य तीन निष्केप संग्रहनय से ग्रहण किए जाते हैं, अतएव दो निष्केपों से व्यवहार नहीं बनता । व्यवहार के लिए भावनिष्केप समर्थ है । यहाँ प्रमाण और नयों से वस्तु का अधिगम होता है । यों वस्तु की जानकारी के उपायों के प्रसंग में नयों का विवरण चल रहा है । नय द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक ऐसे दो प्रकार के होते हैं । द्रव्यार्थिकनय में नैगम, संग्रह, व्यवहार ये तीन नय हैं और उन तीनों में भेद करके जानना यह व्यवहारनय है । यह द्रव्यार्थिकनय का एक नीचा अन्तिमरूप है । द्रव्यार्थिकनय से एक सामान्य द्रव्य का बोध किया जाता है।

पर्यायार्थिकनय में **ऋजुसूत्रनय** की अर्थनयरूपता—अब पर्यायार्थिक की बात कहते हैं । पर्यायार्थिक का अर्थ है—पर्याय ही जिसका प्रयोजन है, सो पर्याय में और भेद क्या? वह तो भेदरूप अंश है । इसलिए पर्यायार्थिकनय में अर्थनय तो एक ही है—ऋजुसूत्रनय । अब उस ही एक अर्थ के ऋजु के द्वारा विषय किए गए पर्याय के शब्दभेद से और रूढि से और तत्क्रिया निष्पत्ति की दृष्टि से तीन भेद और होते हैं, वे भी पर्यायार्थिकनय कहलाते हैं । यहाँ पर्यायार्थिकनय में जो अर्थनय है उसका नाम है ऋजुसूत्रनय । ऋजु मायने एक सूत्रपात, उसकी तरह जो ऋजु को जाने उसका नाम है ऋजुसूत्र याने जैसे कारीगर सूत्रपात करके सूत से एक तंत्र बनाता उसी प्रकार इस नय की दृष्टि से द्रव्य में प्रथम क्षण की परिणति को निरखकर? एक वहाँ विशेष तंत्र की तरह बनाता है, ऐसी दृष्टि को ऋजुसूत्रनय कहते हैं । ऋजुसूत्रनय समस्त त्रिकाल विषयों का उल्लंघन कर, उसकी अपेक्षा न रख वर्तमान विषय के काल को ही ग्रहण करता है याने वर्तमान क्षण की पर्याय मात्र इस नय का विषय है । तीन काल को पर्याय में अतीत काल की पर्याय तो नष्ट ही हो चुकी । उससे तो व्यवहारप्रयोग का काम क्या बनेगा? भविष्यकाल की पर्याय उत्पन्न हुई नहीं, उससे भी कार्य कुछ न बनेगा? व्यवहार न हो सकेगा । इस कारण इस पर्यायार्थिकनय में इस वर्तमान पर्याय की ही एक नजर रखी गई है ।

जैसे कोई कहे कि आँवले में दवाई है तो आँवले के पहले और अन्त की स्थितियां तो दवाई में नहीं आती । उसका अर्थ ही यह है कि जब उसमें रस उत्पन्न हुआ है, ऐसा आँवला दवाई है । पहिली अवस्था में रस अल्प था, अगली अवस्था में वह रस रहता नहीं । तो जैसे वहाँ एक बीच की प्रथम स्थिति उपकारी है, ऐसे

ही पर्यायों में प्रथम क्षण का पर्याय ही एक अर्थक्रिया करता, काम करता । पर सूक्ष्म दृष्टि करके देखें तो वह भी प्रयोग में नहीं आता । तब तो ऋजुसूत्रनय का विषयमात्र जान जान लेना इस नय का प्रयोजन है ।

ऋजुसूत्रनय की अप्रयोज्यता व अव्यवहार्यता होने से मात्र विषयज्ञसि के लिये नयरूपता— यहाँ कोई ऐसी आशंका रख सकता है कि ऋजुसूत्रनय का विषय क्या बताया जायें? जो कहा जायेगा वह या तो अतीत को संकेत करेगा या भविष्य को संकेत करेगा या हो चुका या होगा । हो रहे का संकेत करने वाला शब्द क्या है? तो सुनो, इसे पच्यमानपक्व ऋजुसूत्रनय से कहा जायेगा । जैसे चावल पकाये तो वर्तमान अवस्था क्या? पक रहा, पक गया, उनमें विरोध न समझना, क्योंकि वह पक रहा, पका कहलाता है, क्योंकि पहले समय में यदि कोई अंश न बना, पका तो दूसरे क्षण में भी न पका, तीसरे में भी न पका । कभी एक ही समय में तो पक नहीं जाता । फिर तो पाक का अभाव ही हो गया और पक गया, ऐसा बोल नहीं सकते । तब उसे बोलेंगे पच्यमानपक्व । जैसे किसी अनाज के बर्तन का नाम रखा प्रस्थ, प्रकर्ष रूप से जिसमें गेहूं आदिक ठहर सके उसे प्रस्थ, कहते हैं । तो जब मापा जा रहा है तब वह प्रस्थ है, शेष समय नहीं । जैसे कोई आने के बारे में पूछे कि भाई आज तुम कहाँ से आ रहे हो? तो वह कहता है कि कहाँ से नहीं आ रहे, क्योंकि जिस समय पूछा जा रहा है तो वह तो बैठा हुआ है और बैठे हुए में पूछ रहे कि कहाँ से आ रहे? आ कहाँ रहे, चल कहाँ रहा, बैठा ही तो है । उस काल में तो चलने की क्रिया नहीं हो रही है । तो ऋजुसूत्रनय का ऐसा वर्तमान क्षण का विषय है कि वह व्यवहार के अयोग्य है, फिर भी पर्याय तो है समय में जानने का तो है । क्या हो रहा है? ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में विशेष्यविशेषण भाव भी नहीं कहा जा सकता ।

जैसे कोई विशेषण लगाया काला कौवा, तो काला तो काले में ही कृष्णात्व रखता है और कौवा कौवा में ही काकपना रखता है । कृष्णात्व काक में नहीं, काक में कृष्णात्व नहीं । कृष्ण कृष्णात्मक है । वह काकात्मक नहीं । यदि काला कौवा स्वरूप हो जाये तो जो-जो काले हैं वे सब कौवा कहलाने लगेंगे और कौवा अगर कृष्णादिक हो जाये तो उसी शरीर में जो अन्य वर्ण है सो अन्य वर्ण न रहना चाहिए । खून भी काला हो, हड्डी भी काली हों तब कहा जाये कौवा काला । तो ऋजुसूत्रनय की दृष्टि एक ऐसे क्षण पर है कि जिससे व्यवहार नहीं बनता । केवल एक जानकारी का विषय बनता है । ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में समानाधिकरण भी नहीं बनता । शक्ति शक्तिरूप है, पर्याय पर्यायरूप है । यह सब वर्णन कि एक पदार्थ है, उसमें गुण है, उसमें पर्याय है, यह पर्यायार्थिकनय का विषय नहीं है । यह तो द्रव्यार्थिकनय का भेदगत व्यवहारनय का विषय है । व्यवहारनय वर्तमान पर्याय मात्र को ग्रहण करता, जिसमें निर्णय कुछ नहीं पड़ा हुआ है और न उसका आश्रय लेकर निर्णय ही किया जाना चाहिए, क्योंकि पर्यायार्थिकनय तो केवल वर्तमान पर्यायमात्र को विषय करता, निर्णय के लिए वह किसी भी रूप में समर्थ नहीं है, वह तो ऐसी वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता कि जहाँ उत्तरक्षण और पूर्वक्षण से कुछ सम्बंध न रखा हो । इस नय की दृष्टि में कोई यह भी व्यवहार नहीं कर सकता कि अगर दूकान में रुई जल रही हो तो वह कह सकेगा इस दृष्टि में कि रुई जल रही हैं क्योंकि क्षण को देखिये—जो जल रही है वह रुई नहीं, जो रुई है वह वर्तमान में जल नहीं रही । इस प्रकार ऋजुसूत्रनय एक क्षण के ही मात्र तत्त्व को देखता है । वहाँ न कार्य कारण भाव है, न विशेष्यविशेषण भाव, न समानाधिकरण भाव, किन्तु

एक क्षण बिजली द्वर्शन की तरह एक वर्तमान पर्याय मात्र का अवलोकन हो जाना ही इस पर्यायार्थिकनय का प्रयोजन है। यहाँ कोई यह आशंका कर सकता है कि जब व्यवहार ऋजुसूत्रनय में नहीं तो कोई व्यवहार बनता नहीं, भोजन पान आदिक का व्यवहार बनता नहीं, कोई चौज भी तैयार हो सकती। सारे व्यवहार का लोप हो जायेगा। तो इस शंका का समाधान यह है कि व्यवहार बना रहे यह कोई मंशा नहीं है नयों की। जहाँ हो सकता है व्यवहार हुआ। इस प्रकार की दृष्टि में व्यवहार नहीं बनता है तो मत बनो। यह तो वर्तमान पर्यायमात्र किस प्रकार है, कैसा अवक्तव्य है, अप्रयोजन है, अव्यवहार्य है, इतने मात्र का दर्शन इस नय में कराया गया है। व्यवहार की सिद्धि पूर्वनय से हो जायेगी और व्यवहार की सिद्धि पर्यायार्थिकनय के भेद रूप व्यवहारनय से होती है।

नयों की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता के प्रसंग में शब्दनय का विवरण—अब यहाँ ऋजुसूत्रनय से एक वर्तमान पर्याय जाना, इतनी बात तो आयी। अब उसमें भी कई और भेद हो सकते हैं। इसका वर्णन शब्दनय समभिरुद्ध और एवंभूत में होगा। यद्यपि अंतिम तीन नयों के भेद से अर्थ में भेद नहीं पड़ता, क्योंकि ऋजुसूत्रनय का विषयभूत जो अर्थ है वह एक अन्तिम भेद है। एक क्षण से और भेद क्या बनेगा? लेकिन एक क्षण के विषय को शब्दों द्वारा भेद करना इन नयों का प्रयोजन है। शब्दनय ऋजुसूत्रनय से ग्रहण किए गए अर्थ में शब्दों से अर्थ भेद करना, उपयुक्त शब्द द्वारा किसी एक अर्थ को ग्रहण करना प्रयोजन है। शब्द का अर्थ है जो सर्व सम्पत्ति याने अर्थ को कहे, अर्थ का ज्ञान कराये उस नय को शब्दनय कहते हैं याने जिस शब्द का उचारण किया गया है वह शब्द। जो पुरुष सुन रहा हो उसको अपने अविदेय में जानकारी बना दें, उसी का ही नाम तो शब्द है शब्दनय है। यह शब्दनय लिंग, संख्या, साधन आदिक का व्यभिचार दूर कर देता है याने ऋजुसूत्रनय से तो लिंग संख्या की विशेषता नहीं इसकी ओर दृष्टि भेद न डालकर किसी भी शब्द से कह लो, बस वर्तमान अर्थ में आना चाहिए। यहाँ तक ही मंशा ऋजुसूत्रनय की थी। अब शब्दनय शब्द के उपयुक्त अर्थ को ग्रहण करता है। जैसे एक स्वाति नक्षत्र तारा होता है। अब उस स्वाति तारा है ऐसा कथन ऋजुसूत्रनय में तो चल जाता है, क्योंकि ऋजुसूत्रनय की दृष्टि शब्द पर नहीं है, पर शब्दनय यह कहता है कि स्थिति तारा यह कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि स्वाति है पुलिंग और तारा है स्त्रीलिंग। स्त्रीलिंग के साथ पुलिंग को कहना, पुलिंग के साथ स्त्रीलिंग को कहना यह शब्दनय में दोष की बात है।

जैसे कोई कहे विद्या याने ज्ञान तो विद्या स्त्रीलिंग और ज्ञान नपुंसक। तो इसका कैसे जोड़ सही बन रहा? कोई कहे कि आयुध शक्ति है, आयुध मायने हथियार, आयुध है नपुंसकलिंग, शक्ति है स्त्रीलिंग। इन दोनों शब्दों का मेल कर देना ऋजुसूत्रनय में तो क्षम्य है, पर शब्दनय की दृष्टि में क्षम्य नहीं है। वे इसे दोष समझते हैं कि अन्य लिंग की सिद्धि के साथ अन्य लिङ्ग का सम्बन्ध बनाना। इसी प्रकार संख्या का व्यभिचार भी शब्दनय को पसंद नहीं है। जैसे बहुत से आम के पेड़ हैं और उसे यों कहना कि यह आम बन है। तो ऋजुसूत्रनय तक यह बात चलती थी, वहाँ शब्द की मुख्यता नहीं, मगर आम तो बहुत हैं और बन एक कहा जा रहा है तो बहुत के साथ एक का जोड़ करना शब्दनय में मंजूर नहीं है। तो इसी तरह शब्दों के भेद से

ऋजुसूत्रनय द्वारा गृहीत अर्थ में भेद करना और ऐसे भेद करते हुए परिचय करना यह शब्दनय का कार्य है।

जैसे कोई कहे कि इसका सर्व को जान लेने वाला पुत्र होगा तो पुत्र तो होगा भविष्य में और उस पुत्र का रख रहे हैं विशेषण—सर्व (सबको) जानने वाला तो यहाँ जान लेना तो उठती हुई बात हुई और होगा भविष्य में। तो भूत का भविष्य के साथ मेल बनाना यह शब्दनय को पसंद नहीं है। शब्दनय तो शब्द में जैसी ध्वनि हैं उस ही रूप अर्थ से मेल करेगा। तो इस प्रकार के व्यभिचार नहीं होते कि पुलिङ्ग शब्द के साथ स्त्रीलिंग, भूत का भविष्य के साथ मेल कराये, ये दोष शब्दनय में नहीं हुआ करते, क्योंकि शब्दनय की दृष्टि में वे सब जुदे-जुदे अर्थ हैं और जुदे-जुदे अर्थ का अन्य अर्थ से सम्बंध नहीं जोड़ा जा सकता। यदि भिन्न अर्थ का भिन्न के साथ सम्बंध जुड़ जाये तो घड़ा कपड़ा हो जाये, कपड़ा मकान बन जाये, क्योंकि एक अर्थ दूसरे रूप होने लगा मान लिया। तो शब्दनय इतने बारीक विषय को ग्रहण करता कि ऋजुसूत्रनय से जो अर्थ ग्रहण किया गया उसमें भी शब्दभेद से भिन्न-भिन्न रूप में ग्रहण करता है। यहाँ कोई कहे कि इस तरह से तो लोक का, सिद्धान्त का, व्यवहार का विरोध हो जाता है। तो उत्तर यह है कि विरोध होने दो। यहाँ तो ऐसी चर्चा चल रही है कि किस नय में क्या तत्त्व नज़र आता है? व्यवहार कैसे द्रव्यार्थिकनय के भेदभेद व्यवहार से चलेगा। तो यहाँ तक शब्दनय से ऋजुसूत्रनय से ग्रहण किए गए अर्थ में और भी भेद करके जुदा-जुदा पहिचाना।

नयों की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता के प्रसंग में समभिरूढ़नय का प्रतिपादन—अब इस ऋजुसूत्रनय के विषय से और सूक्ष्म विषय है समभिरूढ़नय का। तो शब्दभेद से अर्थभेद किया। अब समभिरूढ़नय में एक शब्द के अनेक अर्थ हैं। उन अनेक अर्थों को तो शब्दनय ने जाना, पर समभिरूढ़नय उन अनेक अर्थों में से एक पदार्थ जो कि समभिरूढ़ है, प्रसिद्ध है, लोकसम्मत है उसको ही ग्रहण करना, यह समभिरूढ़नय का अर्थ है। समभिरूढ़ का अर्थ है नाना अर्थों को एक अर्थ में ही अभिमुखता को रूढ़ करे वह समभिरूढ़ है। जो एक अर्थ पकड़ा गया समभिरूढ़नय वह अन्य वस्तु में संक्रमण नहीं करता। जैसे कि तीसरा शुक्लध्यान बताया है सूक्ष्मक्रिया, वह वितर्करहित है, परिवर्तनरहित है, क्योंकि यह सूक्ष्म कार्य योग में हुआ करता है। इसी प्रकार समभिरूढ़नय से जो कोई बोला गया शब्द, जैसे गौ तो यह शब्द यद्यपि अनेक अर्थों में लग रहा है तो भी एक अर्थ में ही वर्तमान होता है। गौ के अर्थ अनेक हैं—कान्ति, वाणी, किरण, पर अर्थ लिया गया गाय पशु से। तो समभिरूढ़ में यह मंशा है कि एक अर्थ का एक पदार्थ के ही साथ प्रयोग होवे, क्योंकि शब्दभेद है तो अर्थभेद भी अवश्य होना चाहिए। तो नाना अर्थों में लगने से यह समभिरूढ़ कहलाता है, याने जो शब्द जिस पदार्थ में प्रसिद्ध है उसका वही वाच्य होता है, ऐसी समभिरूढ़ की मंशा है, क्योंकि प्रत्येक अपने आपमें ही रहने वाला होता है।

नयों की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता के प्रसंग में एवंभूतनय का विवरण—अब समभिरूढ़नय से और सूक्ष्मनय है एवंभूत। जिस स्वरूप से, जिस अविधेय से याने शब्द की जो मंशा है उस रूप क्रिया से जो हो उसे उस ही क्रिया से निश्चय करना सो एवंभूत नय होता है। जैसे राजा का अर्थ है शासन करना, राज्य करना, वह कभी किसी जगह खेल रहा हो, तो वह राजक्रिया नहीं कर रहा उस समय उसमें राजत्व नहीं है। जैसे इन्द्र शब्द का अर्थ है विलय, ऐश्वर्य वाला होना। तो जब अपना ऐश्वर्य कला दिखा रहा उसी समय वह इन्द्र है, अन्य समय उसे

इन्द्र कहना युक्त नहीं है, क्योंकि जिस समय जो किया हो रही है उस क्रिया में ही वह है, पूर्व उत्तर काल में वह किया नहीं है तो उस शब्द के द्वारा वह वाच्य नहीं हो सकता। इस नय की दृष्टि में तो इन्द्र के ज्ञान में लग रहा आत्मा ही इन्द्र कहलाता। अग्नि के ज्ञान में लग रहा अग्नि ही इन्द्र कहलाता। पटषडागम ग्रंथ में बताया है कि एवंभूत नय से नारकी कौन है जो नरक पर्याय सम्बन्धी ज्ञान से परिणत हो रहा है।

यहां कोई यह शंका कर सकता है कि यदि अग्नि के ज्ञान में परिणत जीव को ही अग्नि कह दिया जाये तो अग्नि को जलाने वाली होती है तो क्या वह जल उठेगा? इसका समाधान यह है कि एवंभूतनय में आगमभाव अग्नि की बात कही जाती है। यों आगमभाव अग्नि तो अग्नि ही है, उसमें दाहकत्व तो है, पर अग्नि के स्वरूप को जानने वाले आगम भाव निक्षेप की अपेक्षा अग्नि कहलाती है तो वह तो आगम भाव रूप है। एवंभूतनय, समभिरूढ़नय से भी सूक्ष्म है। तो ये सातों नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय वाले होने से इनका कम यों रखा गया है कि ताकि यह ज्ञात हो कि अगला-अगला नया कारण पूर्व-पूर्व नय होता है। तो पहले-पहले के जो महान् विषय हैं उस ही के अन्तर्गत अल्प-अल्प विषय वाले नय होते जाते हैं। तो ये सब नय जब गौण प्रधान रूप से समझें जो पर सापेक्ष हो जाते हैं, इस तरह का कोई परिचय करे तो ये सम्यग्दर्शन के हेतु होते हैं, और यदि ये स्वतंत्र-स्वतंत्र ही अपने-अपने विषय की जानकारी भर रखने का प्रयोजन पूर्ण करें तो ये सम्यग्दर्शन जैसे विशुद्ध परिणाम की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकते।

नयों के विवरण की तीन पद्धतियां—वस्तु के स्वरूप के जानने के उपाय मुख्यतया प्रमाण और नयों को कहा है जिसमें प्रमाण के वर्णन के बाद नयों का वर्णन चल रहा है। ये नय एक साधारण पद्धति में तो ७ प्रकार के हैं। जैसा सूत्र में कहा है कि अध्यात्मपद्धति से चार प्रकार के हैं—परमशुद्धनिश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय और, व्यवहारनय। परमशुद्धनिश्चयनय तो अखण्ड एक स्वरूप को विषय करता है। शुद्धनिश्चयनय शुद्ध पर्याय को द्रव्य के साथ एकतारूप से देखता है अर्थात् वहाँ किसी परपदार्थ पर दृष्टि नहीं है। किसके अभाव से स्वभावपर्याय हुई, यह भी वहाँ कल्पना नहीं है। अशुद्धनिश्चयनय के विषय हैं जीव के अशुद्ध परिणमन। यह अशुद्धनिश्चयनय अशुद्ध पर्याय को जीव के साथ ही जोड़ता हुआ देखता है। किसका निमित्त पाकर हुआ है, ऐसी कल्पना नहीं करता और न किसी अन्य पदार्थ पर दृष्टि रख रहा है। व्यवहारनय एक विकार के तथ्य को प्रकट करता है अथवा समस्त नयों के प्रतिपादन की विधि बनाता है। तीसरी पद्धति है बुद्धिशब्दार्थपद्धति याने ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय। ज्ञाननय तो नैगमनय है, इसमें ज्ञानरूप विषय है, अर्थनय, संग्रहनय, व्यवहारनय और ऋजुसूत्रनय के विषय को जानता है। शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवंभूतनय—इन तीन नयों के विषय को जानता है।

नयों की व्यापकविवरण वाली पद्धति में द्रव्यार्थिक हेतुक निश्चयनय के प्रथम प्रकार का दिग्दर्शन—अब चौथी पद्धति देखिये एक व्यापक विवरण वाली पद्धति। इस पद्धति के अनुसार नय के दो भेद हैं—(१) निश्चयनय, (२) व्यवहारनय। निश्चयनय के दो भेद हैं—(१) द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय (२) पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय। इसी प्रकार व्यवहारनय के चार भेद हैं—उपचरित सद्भूतव्यवहारनय (२) अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय (३) उपचरित असद्भूतव्यवहारनय और (४) अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय अथवा इस पद्धति में व्यवहारनय के ५

भेद किए जाते हैं—(१) शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय (२) अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय (३) स्वगात असद्भूतव्यवहारनय (४) विगात असद्भूतव्यवहारनय (५) स्वगातविगात असद्भूतव्यवहारनय। अभी जो निश्चयनय के भेद कहे गए थे—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय और पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय। इनमें से द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय का विवरण सुनो—मूल में इस प्रकार का अर्थ है कि जो निश्चयनय द्रव्यार्थिकनय की विधि को विषय करता हुआ है वह है द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय। जैसे यह नय १० प्रकारों में बँटा हुआ है, जिसमें पहला प्रयोग है—परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय, याने जो वस्तु के परमपारिणामिक सहजस्वभाव को ग्रहण करने वाला हो वह परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय है। जैसे आत्मतत्त्व के विषय में इस दृष्टि में ऐसा परिचय मिलता है कि आत्मा चैतन्यस्वरूप है। नयों के समस्त विवरण में, सभी भेदों में यह घटाते जाना चाहिए कि इस नय से हमें वस्तु का किस भाँति परिचय मिलता है, और उस परिचय से आत्मा अपने हित की ओर कैसे मुड़ता है, इस नय ने आत्मा को चैतन्यस्वरूप देखा। अखण्ड, अन्य कुछ दिख ही नहीं रहा यह नय तो इस नय का प्रभाव जो आत्मा पर पड़ता है वह तो प्रकट ही है। केवल एक चैतन्यस्वरूप पर दृष्टि होने से यहाँ विकल्प दूर होते हैं, संकट नहीं रहते, सहजस्वभाव की उपासना बनती है। जिससे कर्मकलंक दूर होते हैं, मुक्ति के निकट पहुंचते हैं। वस्तु के स्वरूप का प्रयोजन यह है कि आत्मअहित का त्याग करें और हित को ग्रहण करें। अहित है विकार को स्वीकार करना और हित है सहजस्वभाव को स्वीकार करना, क्योंकि हित तो जीव का अनाकुल भाव है। जिसमें आकुलता मिटे वह तो हित है और जहाँ आकुलता बढ़े वह अहित है। तो जहाँ विकार से लगाव रहेगा, वहाँ आकुलता ही मिलेगी। विकार के लगाव का आधार पाकर ही जीव बाह्य पदार्थों में लगाव रखता है। वस्तुतः देखा जाये तो बाह्य पदार्थों में लगाव कोई भी नहीं रख सकता, क्योंकि बाह्य पदार्थ भिन्न पदार्थ हैं, आत्मा भिन्न पदार्थ है। भिन्न पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ से सम्बंध नहीं रख सकता। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी एक का दूसरे में नहीं है। तो निश्चयतः लगाव जीव का अन्य द्रव्यों में नहीं होता, किन्तु कर्मोदय को निमित्तमात्र पाकर होने वाला जो जीव में प्रतिफलन है, प्रतिबिम्ब है उसके साथ यह जीव लगाव करता है। सो ये विकार परमभाव हैं, औपाधिक हैं, जीव के स्वरूप नहीं हैं। उसे परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय ने स्वीकार भी नहीं किया। तो इस दृष्टि में जीव को आकुलता नहीं रहती और अपने निराकुल स्वरूप हित को इस नय के माध्यम से पा लेता है। सर्वत्र नयों के विवरण में यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी नय निरपेक्ष होकर सत्य नहीं होते, सापेक्ष होकर ही सत्य होते हैं। तो यह सापेक्षता उस समय दृष्टि में तो नहीं, किन्तु प्रमाण से अधिगम होता है, अतएव उसकी जानकारी में वह सब अपेक्षा पड़ी हुई है। तो इस प्रकार प्रमाण से जाने गए पदार्थ में फिर नयों से जानने को सही नय कहते हैं।

भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नाम का द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिक हेतुक निश्चयनय का दूसरा प्रकार है भेदकल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय। इस नय के नाम से ही अर्थ निकल आता है याने भेदकल्पना जहाँ नहीं होती, भेदकल्पना की अपेक्षा से अलग रहकर याने भेदकल्पना न करके अभिन्न वस्तु के ग्रहण करने वाले नय को भेदकल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। इस दृष्टि में ग्रहण किए गए एक शुद्ध द्रव्य को अर्थात् पर से भिन्न और निज के एकत्र में तन्मय, पर गुणपर्यायों से अभिन्न देखा गया है। भेदकल्पना नहीं

की, इसके एवज में अभेदरूप से निरखना चल रहा है। जैसे आत्मा अपने गुण और पर्यायों से अभिन्न है, इस नय का प्रभाव आत्मा पर क्या पड़ता है, यह बात समझने के लिए इसमें विपरीतनय की दृष्टि के प्रभाव से पहले समझिये—जब कोई जीव आत्मा को इस तरह देखे कि इसमें गुण है, पर्याय है, गुण अनन्त हैं, प्रत्येक गुण की पर्याय होती है, ऐसा प्रतिसमय उतनी ही पर्यायें हैं और फिर अगले-अगले समय में जुदी-जुदी पर्यायें होती हैं, है तो यह विवरण ही। वस्तु के बारे में प्रतिपादन इस तरह भी होता है, पर यों भेद करके दृष्टि रखने से एक निर्विकल्पता अथवा समाधि का, अवसर नहीं होता और जहाँ समस्त गुण पर्यायों से अभिन्न एक द्रव्य को ही देखा वहाँ विकल्प शान्त होते हैं और यह समाधि के अवसर का पात्र होता है। तो इस नय की दृष्टि में इस जीव ने अपने आपमें एक अद्भुत प्रभाव पाया। यह प्रभाव तब ही बन सका जब प्रमाण द्वारा ग्रहण किए गए आत्मपदार्थ में इस दृष्टि से निरखा गया है।

स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नाम का द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय का तीसरा प्रकार है स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय अर्थात् अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करना इस नय का काम हैं। जैसे आत्मतत्त्व के बारे में यों निरखना कि यह मैं आत्मा अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र, अपने काल और अपने भाव से हूँ अर्थात् जो मैं हूँ शक्तिरूप, परिणामरूप ऐसा यह मैं पूरा पदार्थ अपने ही द्रव्य से हूँ, ऐसा निरख रहा है यह नय। साथ मैं यह भी बात लगी है कि परद्रव्य से मैं नहीं हूँ। पर यह सब प्रमाण से जान लिया गया था, तो प्रमाण से जाने हुए आत्मपदार्थ के विषय में इस नय से समझा जा रहा कि मैं अपने द्रव्य से हूँ, अपने क्षेत्र से हूँ। जो मेरा निज क्षेत्र है, आत्मप्रदेश है, उन रूप से मैं हूँ, किसी पर के प्रदेश रूप से मैं नहीं हूँ। जो सत् होता है वह स्वतंत्र होता है, वह अपने आपके सर्वास्तित्व से अपने आप सत् रहता है। तो यह मैं आत्मा अपने क्षेत्र से हूँ, यह इस नय ने जाना। यह मैं आत्मा अपने काल से हूँ। मैं पदार्थ हूँ तो मुझ में प्रतिसमय परिणमन होता रहता है। जो मेरा परिणमन है वह मेरा काल है, स्वकाल हैं। मैं स्वकाल से हूँ। इसके साथ यद्यपि यह भी बात लगी हुई है कि परकाल से नहीं हूँ, किन्तु यह समझ प्रमाण की है और प्रमाण से समझे गए ही पदार्थ में इस नय से जानने का प्रभाव होता है। मैं अपने परिणमन से हूँ, अपनी पर्याय को अपने में ही विकसित करता हूँ, ऐसा इस नय में देखा जा रहा है। मैं अपने भाव से हूँ अर्थात् मेरी शक्ति, मेरा बल मेरे में ही है और उस ही भाव से रहता हूँ। ये ही शक्तियाँ गुण कहलाती हैं, ये ही शक्ति अभेददृष्टि से स्वभाव कहलाती हैं। मैं अपने स्वभाव से हूँ, अपने गुणों से हूँ, इस प्रकार की दृष्टि इस नय में होती है। इस दृष्टि का फल यह है कि जहाँ निःशंकतापूर्वक यह बोध चल रहा है कि मैं अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से हूँ। तो इस प्रकार के दर्शन में इस जीव को संकट, आकुलता का कोई अवसर नहीं होता।

परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नाम का द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय का चौथा प्रकार है परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय। तो परद्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को ग्रहण करने वाला है द्रव्यार्थिकनय। अर्थात् यह नय परद्रव्य के क्षेत्र को किस तरह ग्रहण करता? यह बात समझने की है। वह ग्रहण है एक प्रतिबंधक अर्थात् जैसे मैं परद्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं हूँ, मुझमें किसी के परपदार्थ का द्रव्य नहीं

है। द्रव्य स्वयं सभी परिपूर्ण होते हैं और अपने आपमें परिसमाप्त हैं, किसी भी द्रव्य का मेल किसी अन्य द्रव्य में नहीं होता, इसी प्रकार परद्रव्य का प्रवेश उस ही में है, तत्त्व ही तो है वह द्रव्य। परद्रव्य का क्षेत्र किसी अन्य द्रव्य में नहीं पहुंच सकता। मैं परद्रव्य के क्षेत्र से नहीं हूँ, अर्थात् मेरे को छोड़कर अनंत जीव, समस्त अनंत पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और असंख्यात् कालद्रव्य, इनके प्रदेश से मैं नहीं हूँ। परद्रव्य का काल याने परद्रव्य का परिणमन उन ही में है, प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने परिणमन से व्याप्त होते जाते हैं, मैं परद्रव्य की पर्याय से अत्यन्त जुदा हूँ, इस तरह इस नय में निरखा जा रहा है। मैं परभाव से नहीं हूँ, अन्य पदार्थ की शक्ति, अन्य पदार्थ के गुण, अन्य पदार्थ के भाव उस ही पदार्थ में है, अन्य पदार्थ में नहीं पहुंच सकते। मुझमें किसी एक पदार्थ का, परभाव का भाव नहीं, शक्ति नहीं, धर्म नहीं है। इस तरह यह नय परपदार्थों से अपने को विविक्त निरख रहा है। सम्यक्त्व उत्पत्ति ऐसे ही परिचय वाले पुरुष के होती है जो परपदार्थों से भिन्न और अपने आपमें तत्त्व निज द्रव्य को निरखते हैं। तो इस नय का परपदार्थ से भिन्नता के निर्णय की ओर इस आत्मा को प्रभावित किया है।

अन्वयद्रव्यार्थिक नाम का द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय का ५वां प्रकार है अन्वयद्रव्यार्थिकनय। याने गुण और पर्यायों में अन्वयरूप से रहने वाले द्रव्य को इस नय ने ग्रहण किया है। प्रत्येक पदार्थ अपने समस्त गुणों में अन्वित है और इसी प्रकार जितनी पर्यायें होती हैं उन सब पर्यायों में पदार्थ अन्वित है। जैसे यह मैं आत्मा अपने समस्त गुणों रूप हूँ अथवा गुण कहां अलग है? आत्मा स्वयं एक अखण्ड तत्त्व है, एक स्वभावरूप है। वही एक स्वभाव जब समझा जाता है, जब इसे हम समझते हैं तो हम भेद करके गुणों के रूप से समझते हैं, तो वे गुण मुझसे भिन्न नहीं, उन गुणों में ही अन्वयरूप से मैं हूँ, समस्त गुणों में व्यापक हूँ। इस प्रकार मेरी जो-जो पर्यायें होती जाती हैं वे सब पर्यायें मुझमें हैं। मैं उन पर्यायों में व्यापता जाता हूँ। पर्यायें मुझसे अलग नहीं हैं, मुझमें ही वे उत्पन्न हुए तो उन पर्यायों में अन्वयरूप से रहता हूँ, ऐसा इस नय ने दिखाया, जिससे संक्षेप में यह निर्णय रहा कि मैं अपने गुणपर्याय स्वभाव वाला हूँ। प्रत्येक द्रव्य अपने गुणपर्याय स्वभाव वाला होता है।

उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नाम का द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय का छठा प्रकार है उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय। इस नय के नाम से ही इस नय का विषय परख लिया जाता है। याने जिस दृष्टि में उत्पाद और व्यय तो गौण हैं और सत्ता का ग्रहण है, ऐसा शुद्ध अभेद द्रव्य को निरखने वाला नय यहाँ इस प्रयोगता को अभेद की ओर ले जाया जा रहा है। इस नय की दृष्टि में पदार्थ नित्य दिख रहा है, क्योंकि उत्पादव्यय को तो गौण किया गया है और केवल ध्रौव्य विषय को सदा ही निरखा जा रहा है। उत्पादव्यय नहीं होते, यह बात न समझना। उत्पाद व्यय सापेक्ष ही ध्रौव्य हुआ करता, लेकिन वह सब तो इस ज्ञानी ने प्रमाणादिक द्वारा जान लिया। अब प्रमाण द्वारा जान ली गई वस्तु को ध्रौव्यदृष्टि से देख रहा है तो उत्पाद व्यय गौण हो गए। केवल सत्ता की दृष्टि से वस्तु के धर्म को ग्रहण किया जा रहा है। तो इस नय में पदार्थ नित्य निरखा जा रहा है और इस निरखने का प्रभाव यह होता है कि जब यह निश्चय हो गया कि नित्य हूँ, सदा रहता हूँ तो इस दृष्टि के बल से बहुत-सी आकुलता, शंका, भय दूर हो जाता है,

और चूंकि मैं नित्य हूं, सदा रहता हूं तो मुझे अब थोड़े समय के कल्पित सुखों में रहकर अपना भविष्य न बिगाड़ना चाहिए, आदिक प्रेरणायें इस नय से मिलती हैं।

कर्मोपाधिनिरपेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय नाम का द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय का ७वां प्रकार है कर्मोपाधि निरपेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, जहाँ कर्मोपाधि की अपेक्षा नहीं है और अशुद्ध द्रव्य को देखा जा रहा है, ऐसे आशय में जो द्रव्य का निरखना है वह कर्मोपाधि निरपेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। इसका विषय है जैसे संसारी जीव सिद्ध समान शुद्ध आत्मा हैं, कर्मोपाधि की अपेक्षा रखी नहीं गई तो विकार के निरखने की गुञ्जाइश ही नहीं है और चूंकि देखा जा रहा है संसारी जीव को ही तो उसे समझाया जा रहा है सिद्ध समान शुद्ध आत्मा। इस नय का विषय द्रव्य है, इस कारण यह द्रव्यार्थिक है। इस नय ने अभेद भीतरी स्वभाव को ग्रहण किया, इस कारण यह निश्चयनय है। कर्मोपाधि की अपेक्षा न होने से यहाँ निरखा जा रहा है सिद्ध समान शुद्ध आत्मा। इस नय की दृष्टि में शिक्षा क्या मिलती है कि संसार अवस्था में भी जीव में जीवत्व तो सिद्धप्रभु की तरह है और उसमें जीव की प्रकृति सिद्ध आत्मा की तरह शुद्ध अविकार अवस्था की है। इस नय की दृष्टि में बहुत बड़ी प्रेरणा मिलती है। हम अपने को विकृत संसार में भटकने योग्य पदार्थ न मानें कि हम तो ऐसे ही हैं कि जो संसार में जन्म मरण करते रहे और इस तरह संसार बढ़ाते चले जायें, इसके लिए ही मेरा अस्तित्व, है, ऐसा जानकर कायरता आती है। उस कायरता को यह नय मिटा देता है और अन्तः एक स्फूर्ति उत्पन्न करता है कि तू तो सिद्धप्रभु के समान शुद्ध आत्मतत्त्व की प्रकृति वाला है।

कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकहेतुक नाम की द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—अब द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय का ८वां प्रकार सुनो। वह है कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय। इस दृष्टि से अशुद्ध द्रव्य को निरखा जा रहा है, परन्तु अभेद रूप से देखा जा रहा। साथ ही कर्मोपाधि की अपेक्षा भी चल रही है। अभी जो ७वें प्रकार में कहा गया था, जैसे वहाँ अशुद्ध द्रव्य को देखा ऐसे ही वहाँ अशुद्ध द्रव्य को देखा जा रहा है, किन्तु उस ७वें प्रकार की कर्मोपाधि की अपेक्षा न होने से अन्तःशुद्धत्व की दृष्टि हुई थी, किन्तु यहाँ कर्मोपाधि की अपेक्षा होने से अशुद्ध विकार की दृष्टि हो, रही है। इसका विषय है—जैसे कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए क्रोधादिक भावात्मक आत्मा से वर्तमान में आत्मा को देखा जा रहा है वर्तमान पर्याय से परिणत और चूंकि यहाँ उस पर्याय का द्रव्य से भेद करके नहीं देखा जा रहा है, किन्तु, उस पर्यायात्मक रूप से देखा जा रहा है, इस कारण यह निश्चयनय का विषय है, फिर भी कर्मोपाधि की अपेक्षा इस नय में चल रही है, इस कारण अध्यात्मपद्धति में बताये गये अशुद्ध निश्चयनय से इस नय में व्यवहारिकता अधिक है, फिर भी आशयभेद होने से अपर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय में कहा गया है। इस नय की दृष्टि से हम यहीं तो निरख रहे हैं कि आत्मा क्रोधादिक भाव रूप है, कहीं अचेतन प्रकृतिरूप नहीं है, किन्तु आत्मा का ही यह विकार बन रहा है और आत्मा की परिणति से बन रहा है, अतः हमें प्रमादी न होना चाहिए या संतुष्ट न रहना चाहिए इस ओर से कि ये तो सब प्रकृति के विकार हैं, मेरा इसमें क्या बिगाड़ है? उस बिगाड़ रूप मैं हूँ ऐसा एक चित्त में पुरुषार्थ की ओर प्रयास बनता है और उस प्रयास में मदद दे रही है कर्मोपाधि की अपेक्षा वाली दृष्टि। ये क्रोधादिक दूर हो सकते हैं, क्योंकि ये मेरे सहजस्वभाव से नहीं हुए हैं कर्मोपाधि की अपेक्षा रखकर हुए हैं। इस तरह मिल-जुलकर एक जागृति उत्पन्न

हुई है ।

भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नाम का द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय का ९वां प्रकार है भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय । इस नय में अशुद्ध द्रव्य को ग्रहण किया गया है, मगर यह अशुद्ध विकाररूप नहीं है, किन्तु अखण्ड द्रव्य में प्रतिबोध के लिए जैसे भेद किया जाता है उस भेदविधि से खण्ड करके गुणों को निरखा जा रहा है । आत्मा में अनन्त गुण हैं, ऐसा निरखना, आत्मा में भेद कल्पना किए बिना नहीं बनता । वस्तु तो प्रत्येक अखण्ड है, और उसका स्वरूप स्वभाव अखण्ड है, किन्तु अखण्ड स्वभाव का एकान्त करके कोई कुछ प्रतिपादन करना चाहे और दूसरे को समझाना चाहे तो उसमें समझ नहीं बढ़ती । इस कारण अखण्ड वस्तु में भेदकल्पना करके अनुरूप स्वभाव के अविरुद्ध और स्वभाव को समझने में मदद करने वाली शक्ति को निरखा जाता है । इस नय के बल से आत्मा के विषय में बड़े विवरण के साथ समझ बनती है । आत्मा कैसा है? ज्ञानवान है, क्योंकि यह जाननहार है । इसमें जानने की शक्ति है । आत्मा कैसा है? आनन्दस्वरूप है, अनाकुल स्वभावी है, इसमें आत्मीय सहज आल्हाद की शक्ति है । आत्मा चारित्रवान है । आत्मा ज्ञान मुखेन ज्ञानबल से अपने ज्ञानस्वरूप में समा जाये, ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूप को ही जाना करे, ऐसी इसमें शक्ति है आदिक रूप से आत्मा का विशेष विवरण समझ में आता है और जब आत्मा का विशेष विवरण समझ में हो तो उसे संकोच कर, स्वभाव में ढालकर हम स्वभाव के परिचय के पात्र बनते हैं, और स्वभाव का आश्रय स्वभाव परिचय बिना नहीं बनता । स्वभावपरिचय से स्वभावाश्रय की पात्रता होती है और स्वभावाश्रय होने से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की समृद्धि होती है ।

उत्पादव्ययसापेक्ष द्रव्यार्थिकनय का द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय—द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय का १० वाँ प्रकार है उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय । इस नय की दृष्टि में देखा तो जा रहा हैं द्रव्य को जो कि ध्रुव है, पर उसे उत्पादव्ययसापेक्ष देखा जा रहा है, इस नय का विषय है द्रव्य एक ही समय में उत्पादव्ययधौव्यात्मक है अर्थात् पदार्थ उसी समय नवीन अवस्था में आता है, पुरानी अवस्था को विलीन करता है और उसका द्रव्यत्व सदा रहता है, सो उस समय भी है । इस नय में द्रव्य को ही देखा जा रहा है और उस द्रव्य को अभेद रूप में देखा जा रहा है, इसलिए यह निश्चयनय है और इसका विषय द्रव्यार्थिक है, अतः द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय है, किन्तु साथ में उत्पादव्यय की अपेक्षा चल रही है, इसलिए यह अशुद्ध है । यहाँ अशुद्ध का मतलब विकार से नहीं है, किन्तु खण्ड से है । एक अखण्ड पदार्थ में उत्पादव्ययधौव्य का भेद रखकर पदार्थ को देखा जा रहा है जिसका परिणाम तथ्यभूत है । इस नय का विषयभूत जब आत्मा को किया जाता है तो वहाँ यह शिक्षा मिलती है कि आत्मा केवल ध्रुव ही नहीं है । जो अपरिणामी हो, जिसमें कुछ परिवर्तन हो ही न सकता हो वह उत्पादव्यय वाला है । आज यदि अज्ञान अवस्था है, विकट अवस्था हैं तो इसे दूर कर निराकुल अवस्था प्राप्त की जा सकती है । इस प्रकार द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय १० प्रकारों में परखा गया है । बताया गया था कि निश्चयनय के दो भेद है—(१) द्रव्यार्थिकहेतुक निश्चयनय और (२) पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय, जिसमें प्रथम का वर्णन हुआ ।

पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय के प्रसंग में अनादिनित्य पर्यायार्थिकनय का वर्णन—अब पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय

का वर्णन करते हैं। इसके ६ प्रकार हैं, जिनमें पहले प्रकार का नाम है अनादिनित्य पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय। इस नय की दृष्टि में देखा, तो जा रहा है पर्यायरूप से ही, परन्तु स्थूल दृष्टि से देखा जा रहा है। पदार्थ में प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्याय बनती हैं, लेकिन ऐसी समय-समय वाली पर्याय को न देखकर स्थूल रूप से देखा जा रहा है। इस नय की दृष्टि में जैसे यहाँ देखा जाता है कि चन्द्र सूर्यादिक पर्यायें नित्य हैं, चन्द्र सूर्य भी विमान हैं और स्कंध हैं, पर्याय हैं, लेकिन यहाँ भी क्षण-क्षण में कितने ही परमाणु बनते हैं, कितने ही परमाणु नये आते हैं और इस कारण इस स्कंध में भी प्रतिक्षण नई अवस्था चलती है, किन्तु उसे दृष्टि में न लेकर एक स्थूल पर्याय दृष्टि में ली गई है, जिसमें कि वह नित्य प्रतीत होती है। सभी लोग जानते हैं कि चन्द्र सूर्य तो एक नित्य हैं और लोग दृष्टान्त भी देते हैं कि जब तक सूर्य चन्द्र हों तब तक अमुक प्रभावना बनती रहे। तो चन्द्र, सूर्य ये स्कंध हैं, पर्यायरूप हैं, अतएव वस्तुतः अनित्य हैं, लेकिन उन पर्यायों को समान रूप से निरखा गया और स्थूल रूप से देखा गया तो जैसे लोकप्रसिद्ध बात है उस तरह से समझा कि चन्द्र, सूर्य आदिक पर्यायें नित्य हैं। इस दृष्टि में जब आत्मा को देखा जाता है तो आत्मा की भी पर्याय जैसे मनुष्य, पशु आदिक हैं तो मनुष्यपर्याय में चूंकि यह कुछ वर्षों तक रहता है तो लोग ऐसा जानते हैं कि यह मनुष्यपर्याय नित्य है। सदा नित्य नहीं है, अनादि नित्य नहीं है, इस कारण इस नय का यह उदाहरण नहीं बन सकता, फिर भी स्थूल दृष्टि से इस प्रकार निरखा जाता है। कहीं चन्द्र, सूर्य की तरह मनुष्यपर्याय को नित्य न मान लिया जाये, यह एक शिक्षा इस नय से मिलती है।

सादिनित्य पर्यायार्थिक नाम का पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय—पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय का दूसरा प्रकार है सादिनित्य पर्यायार्थिकनय। इस नय की दृष्टि में उस पर्याय को देखा जा रहा है, जो पर्याय सदा रह सकती है। स्थूल दृष्टि से देखने पर पर्याय की समानता में एकत्व का उपचार करने की बात कही जा रही है। यहाँ पर्याय को देखा जा रहा है जो सदा रहेगी, किन्तु उसकी आदि हुई है। जैसे सिद्धपर्याय नित्य है, जो जीव सिद्धपर्याय पा चुकता है उसकी वह सिद्धता कभी नष्ट नहीं होती। अनन्त काल तक अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्दरूप रहेगा ही। इस कारण यह सिद्धपर्याय नित्य कही जाती है। वस्तुतः देखा जाये तो सिद्धपर्याय में भी जीव का जो-जो भी परिणमन चल रहा है वह प्रतिक्षण एक नवीन-नवीन परिणमन है, लेकिन विलक्षण परिणमन न लेने से, समान परिणमन होने से उन सब परिणमनों में अभेद दृष्टि गई है और इस दृष्टि में सिद्धपर्याय नित्य प्रतीत हुई। इस नय से एक यह आश्वासन मिलता है कि एक बार यह जीव कर्मकलंक को नष्ट करके सिद्धपर्याय प्राप्त कर ले, फिर यह सिद्धपर्याय प्राप्त कर ले, फिर यह सिद्धपर्याय जो कि अनन्त आनन्द का धाम है वह कभी नष्ट नहीं हो सकती, और ऐसी ही अवस्था हम सब जीवों के लिए उपादेय है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए जिन्होंने उद्यम किया उनका जीवन सफल है।

सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नाम का पर्यायार्थिकहेतुक निश्चनय—पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय का तीसरा प्रकार है सत्तागौण उत्पादव्ययग्राहक नित्य शुद्धपर्यायार्थिकनय। इस नय में प्रत्येक समय की पर्याय निरखी गई है और प्रत्येक समय की अर्थात् एक समय की जो पर्याय है वह अखण्ड है, यह अभेद निरंश अभेद है याने इसके और कोई खण्ड नहीं हो सकते। यह एक अन्तिम खण्ड है, इसलिए अभेद है।

ऐसी अभेद पर्याय को देखने से इसे शुद्ध पर्याय कहा गया है। यहाँ विकारी पर्याय है या स्वाभाविक पर्याय है यह दृष्टि में नहीं लेना है, किन्तु एक समय की पर्याय है, यही मात्र दृष्टि में लेना है। तो ऐसी एक समय की शुद्ध पर्याय अनित्य ही है, इसलिए इसके साथ जो अनित्य विशेषण दिया है वह व्यक्तिसंगत है। यह अनित्य शुद्ध पर्याय तब दृष्टि में आती है जब उत्पादव्यय का ग्रहण किया जा रहा है। अब यह पर्याय हुई, अब यह पर्याय हुई, ऐसा उत्पाद देखा जाता हो, और जहाँ ऐसा उत्पाद देखा जा रहा हो वहाँ व्यय भी उसकी दृष्टि में चल रहा है। किन्तु इस दृष्टि में सत्ता गौण है, ध्रुवता गौण है। तो ऐसा जहाँ सत्ता गौण हो और उत्पादव्यय का ग्रहण हो ऐसी अनित्य शुद्ध पर्याय को निरखना चूंकि अभेदरूप से ही बनता है इस कारण यह सत्ता गौण उत्पादव्ययधौव्यग्राहक अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिकनय कहलाता है। इस नय में एक प्रभाव बनता है। जो मनुष्य प्रमाण द्वारा वस्तु के स्वरूप को जान चुका है वह जब इस नय का उपयोग करता है तो चूंकि उसके उपयोग का विषय है एक समय की शुद्धपर्याय।

यद्यपि छद्मस्थ अवस्था में एक समय की पर्याय का ज्ञान नहीं बनता, क्योंकि यह उपयोग अन्तर्मुहूर्त में जानता है और अन्तर्मुहूर्त की पर्याय को जान पाता है, फिर भी श्रुतज्ञान की ऐसी महिमा है कि विशेष ज्ञान द्वारा एक समय की तो बात क्या, एक समय में भी कल्पना द्वारा खण्ड करके जान सकते हैं। जैसे कहा जाता है कि शुद्ध परमाणु एक समय में चौदह राजू गमन करता है। चौदह राजू गमन कर चुका, वहाँ एक समय नहीं व्यतीत हुआ है। समय से कम कोई समय नहीं होता, लेकिन ऐसा सोचा जाये कि एक परमाणु जब उतनी जगह को उलंघ करके गया तो उस उलंघ के समय में और भी खण्ड कल्पना कर लिया। ज्ञान की महिमा विचित्र है। मूल बात यह कही जा रही है कि यद्यपि एक समय की पर्याय का छद्मस्थ जीव परिचय नहीं करते, फिर भी उसका अनुमान और आगम द्वारा, युक्ति द्वारा, उसका बोध किया करते हैं और यह एक समय की पर्याय चूंकि अन्य से सम्बन्ध नहीं निरखा जा रहा इसलिए शुद्ध है और ऐसे शुद्ध की अनित्य पर्याय के निरखते समय जीव के विकल्प नहीं दौड़ा करते। उन विकल्पों का उपशमन का अवसर है, इस कारण मुमुक्षु जन इस नय की दृष्टि से भी लाभ लिया करते हैं, परन्तु इसका यदि एकान्त हो जाता है तो वस्तुस्वरूप खण्डित हो जाता है। इसलिए प्रमाण द्वारा जिन्होंने वस्तुस्वरूप का परिचय किया है उनको ही अधिकार है कि कभी-कभी इस नय का उपयोग भी करें।

सत्तासापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नामक पर्यायार्थिकहेतुक निश्चय—पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय का चौथा प्रकार है—सत्तासापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय। इस नय की दृष्टि में पर्याय तो देखा जा रहा है, मगर ध्रुवता की अपेक्षा रखते हुए देखा जा रहा है चूंकि उत्पादव्यय देखा जा रहा है, इसलिए अशुद्ध पर्याय अनित्य है और सत्तासापेक्ष देखा जा रहा है इस कारण यह निश्चयनय की ओर जा रहा है। इस नय का विषय है, जैसे पर्याय उत्पादव्ययधौव्यात्मक है। उत्पादव्ययधौव्यात्मक तो द्रव्य होता है, लेकिन द्रव्य से सर्वथा भिन्न पर्याय नहीं होती और चूंकि इस नय की दृष्टि में पर्यायपने के नाते से पर्याय को देखा जा रहा है तो चूंकि पर्याय बिना कभी द्रव्य हो ही नहीं सकता, प्रतिसमय द्रव्य में कोई न कोई पर्याय रहेगी ही, इसलिए पर्याय ध्रुव है याने पर्याय सदा रहा करेगी। पर्यायों का कभी उलंघन न होगा अर्थात् पर्यायशून्य कभी द्रव्य हो जाये, ऐसा त्रिकाल

नहीं होता, इस कारण पर्याय ध्रुव है और चूंकि पर्याय उत्पन्न हुई है, नष्ट हुई है वह वस्तु का परिणम है, इस कारण उत्पादव्यय है। इस प्रकार पर्याय को उत्पादव्ययधौव्यात्मक निरखना इस दृष्टि का विषय है। इस नय के उपयोग से वस्तुस्वरूप के अधिगम में सहायता मिलती है। पदार्थ हमेशा रहेगा और पर्यायरूप रहेगा, फिर भी वहाँ उनमें पर्याय प्रतिक्षण नवीन-नवीन होती जायेगी, पुरानी-पुरानी विलीन होती जायेगी। इस प्रकार एक शुद्ध वस्तु का स्वरूप जाना जा रहा है। साथ ही ऐसा वस्तुस्वरूप जानने में स्वतंत्र का भी बोध हो रहा है। प्रत्येक पदार्थ में ऐसी ही विधि है, और इस विधि में कोई किसी की पर्याय को ग्रहण नहीं करता, इसलिए प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, ऐसा इस नय में परिचय मिलता है।

कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नाम का पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय— पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय का ५वां प्रकार है कर्मोपाधिनिरपेक्ष अनित्य शुद्धपर्यायार्थिकनय। इस नय में दिखाया तो जा रहा है संसारी जीवों को, पर उन्हें दिखाया जा रहा है एक बाह्यदृष्टि में पर्याय रूप से, किन्तु केवल परिणमन सामान्य की दृष्टि से। और साथ ही निरखा जा रहा है कर्मोपाधि की अपेक्षा से रहित। तो जहाँ कर्मोपाधि की अपेक्षा छोड़ दी, केवल परिणमन को ग्रहण किया तो उपाधि निरपेक्ष परिणमन तो परिणमन ही है। उस परिणमन में विकार तो न देखा जा सकेगा। परिणमन सामान्य देखा जा रहा है, और उस परिणमन की दृष्टि से जैसा सिद्ध का परिणमन है तैसा संसारी जीवों का परिणमन है। यह ज्ञात विशेष ध्यान में देनी है। कर्मोपाधि की अपेक्षा छोड़कर केवल परिणमन सामान्य को देखा जा रहा है। परिणमन विशेष पर दृष्टि नहीं है। चूंकि प्रत्येक पदार्थ में परिणमन की कला है और उस कला से क्या परिणमन होता है। इतनी भी बात यहाँ देखी जा रही है। निमित्त सन्निधान या निमित्त वियोग इसके कारण प्रभावित पर्याय की यहाँ दृष्टि नहीं है, अतः इस दृष्टि में यही देखा जा रहा है कि संसारी जीव का परिणमन सिद्धपर्याय के समान शुद्ध है। यह शुद्धता केवल परिणमन सामान्य रूप है, यह दृष्टि में रखकर इस नय का विषय समझना चाहिए।

कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नामक पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय— पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय का छठवाँ प्रकार है कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्यअशुद्धपर्यायार्थिकनय। इस नय की दृष्टि में अशुद्ध विकारी पर्याय को ग्रहण किया गया है और साथ ही इसमें कर्मोपाधि की अपेक्षा है, पर मुख्य विषय द्रव्य है याने द्रव्य के बारें में जानने का प्रयास है, इस कारण यह कर्मोपाधिसापेक्ष अनित्य अशुद्धपर्यायार्थिकनय नाम का पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय है। इस नय की दृष्टि का उदाहरण है, जैसे संसारी जीवों के जन्म-मरण होते हैं यहाँ किसकी चर्चा चल रही है? संसारी जीवों की। जीवद्रव्य है और संसारी विशेषण लगाने से अशुद्ध द्रव्य हो गया, उस अशुद्ध द्रव्य की बात चल रही है। अतएव यह पर्यायार्थिकहेतुक निश्चयनय है। इस नय की दृष्टि यह शिक्षा मिलती है कि वर्तमान से वास्तविकता यह ही हो रही कि यह संसारी जीव कर्म के परतंत्र होता हुआ जन्म-मरण प्राप्त कर रहा है। याने किसी भव को छोड़कर किसी अन्य भव को ग्रहण करता रहता है। यह कोई सम्भावित बात नहीं है कि मात्र दिख गया हो ऐसा और वास्तविकता कुछ न हो। इस समय इसकी स्थिति ऐसी ही है कि इस जीव का यह अशुद्ध परिणमन चल रहा है। यदि इसको अवास्तविक माना जाये अर्थात् एक भ्रम कल्पना ही माना जाये, ये होते नहीं हैं जीव के। होते होंगे किसी अन्य प्रकृति आदिक के,

तो इस कपोल कल्पना के आशय में इस जीव को इस विपत्ति से बचने का प्रयास करने का अवसर नहीं मिलता । यहाँ तक विवरण पद्धति वाले निश्चयनय का वर्णन हुआ ।

उपचरित असद्भूत व्यवहारनय—अब व्यवहारनय का वर्णन चलता है । निश्चयनय और व्यवहारनय में यहाँ यह अन्तर जानना कि निश्चयनय में तो एक दृष्टि से अभेददृष्टि से एक परिचय बताया गया और इस व्यवहारनय से इन समग्र बातों का प्रतिपादन किया जा रहा है । व्यवहारनय का अर्थ है कि जो वस्तु को भेद की मुख्यता देखे, विशेष एवं बहिरंग विषय की मुख्यता से देखे । अनेक वस्तुओं के सम्बंध की दृष्टि बनाकर देखे यह सब व्यवहारनय कहलाता है । इस व्यवहारनय के चार भेद हैं । पहला प्रकार है—उपचरित असद्भूत व्यवहार । इस नय की दृष्टि समझने के लिए इन तीन शब्दों पर विशेष ध्यान देना—उपचरित, असद्भूत और व्यवहार । व्यवहार कहते हैं प्रतिपादन करने को, जिसमें व्यवहरण हो, प्रतिपादन हो, लोग समझें, समझा जाये, प्रतिबोध की विधि बने, ऐसी प्रयोगात्मक विधि को व्यवहारनय कहते हैं । तो व्यवहार के मायने हैं प्रतिपादन, और असद्भूत का अर्थ है कि जो वस्तु में अपने सत्त्व से तो न हो याने सहजस्वभाव तो नहीं है, किन्तु हो गया है, होता है ऐसा कि परपदार्थ का निमित्त सन्निधान पाकर कोई विकार उपादान में हुआ करता ।

जैसे किसी रंग-बिरंगी चीज का सन्निधान हुआ, तो दर्पण उन रंगबिरंगों के अनुकूल परिणाम जाता है, प्रतिबिम्बित हो जाता है तो ऐसे ही आत्मा में जो भाव अपने स्वरूप से तो नहीं हैं, किन्तु कर्मविपाक का सन्निधान पाकर हुए हों तो वे असद्भूत कहलाते हैं, तो रागादिक भाव असद्भूत हैं । उनका प्रतिपादन करना असद्भूत व्यवहार है और ये आत्मा के हैं । इस प्रकार उन रागादिक भावों को आत्मा के कहना, यह उपचरित है । तो उपचरित तो कहलाया कि जो आत्मा की चीज तो नहीं है, किन्तु जिस निमित्त का सान्निध्य पाकर हुआ है उस निमित्त के न बनाकर और निरपराध निरपेक्ष अशुद्ध होकर भी सन्निधान स्ववश आत्मा के कहना, यह हुआ उपचरित असद्भूतव्यवहार । यहाँ यह ध्यान में देना कि असद्भूत तो कहलाता है परउपाधि का निर्मित पाकर होने वाला भाव, किन्तु वह भाव यदि बुद्धिगत है, समझने समझाने के व्यवहार में आता है उसे आत्मा का कहना सो उपचार है । तो इस दृष्टि में इतनी बात आयी कि ये क्रोधादिक विभाव केवल जीव के तो हैं नहीं, क्योंकि ये पौद्गलिक कर्म के विपाक हैं । पुद्गलकर्म का उदय आया और वह अनुभाग, वह पुद्गलकर्म की दशा जो उस उदय में बनी है वह सब इस आत्मा में प्रतिबिम्बित हुआ और उसे इस आत्मा ने अपनी बुद्धि में लिया, ऐसा क्रोधादिक भावों का प्रतिपादन होना सो उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है । इससे शिक्षा यह मिलती है कि ये विभाव आत्मा के स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि ये असद्भूत हैं, ये आत्मा के नहीं कहे जाने चाहिए, क्योंकि ये औपाधिक हैं । तो इन समस्त विभावों को पौद्गलिक जानकर पुद्गल विपाक का प्रतिफलन जानकर इनसे अपना लगाव न रखना चाहिए और इससे विरक्त रहकर निज शुद्ध स्वभाव की ओर उन्मुख होना चाहिए ।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय—दूसरा व्यवहारनय है अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय । इसमें विषय तो वही है जो उपचरित अद्भूत व्यवहारनय में था याने कर्मोपाधि का सन्निधान पाकर जो विकार हुए वे असद्भूत हैं, उसका ही कथन है, किन्तु जो बुद्धि में न आये, ऐसे सूक्ष्म विभावों को विषय किया है इस नय ने । उपचार

नहीं हो सकता। किसका है, कैसा है इसका विवरण नहीं चलता। आगम से और युक्ति से जाना कि कर्मविपाक का सत्रिधान पाकर नियम से प्रतिफलन होता है तो वह प्रतिफलन विभाव है, असद्भूत है। किन्तु बुद्धिगत नहीं है, अतएव अनुपचरित है। जैसे जो सूक्ष्म रागादिक भाव हैं उनका उपचार तो हो नहीं सकता, क्योंकि वे सूक्ष्म हैं और बतलाने समझाने के व्यवहार तक में नहीं आ पाते, इस कारण अनुपचरित हैं और केवल जीव से नहीं होते इसलिए असद्भूत हैं, और फिर उनको जीव के बताया गया, प्रतिपादन किया गया, यह व्यवहार है। इस नय से समझ बनाकर यह शिक्षा लेनी चाहिए कि जीव के जो सहज ज्ञायकस्वरूप हैं और जीव की जो कुछ भी शक्तियां हैं, अनुजीवी गुण हैं उनका परिणमन उसके अतिरिक्त जो भी परिणाम हैं वे विभाव परिणाम हैं। कितने ही सूक्ष्म हों, बुद्धि में भी नहीं आ रहे, फिर भी ये विभाव हैं और हेय तत्त्व हैं, जो आगम से जाने, युक्ति से जाने उससे भी विरक्तता होनी चाहिए।

उपचरित सद्भूतव्यवहारनय—व्यवहारनय का तीसरा प्रयोग है उपचरित सद्भूत व्यवहारनय। इस नय की दृष्टि में बात तो सद्भूत कही जा रही है याने उसी वस्तु का गुण उसी वस्तु में बताया जा रहा, यह सद्भूतपना है, पर उस गुण का पर की अपेक्षा से व्यवहार हो तो वह उपचरित हो जाता है। जैसे यह कहना कि आत्मा स्व और पर का ज्ञाता है। विशुद्धता तो यह है कि आत्मा जाननस्वभाव वाला है, अब उसे किसका जानने वाला है, इसके उत्तर के रूप में प्रमेय पदार्थ का सम्बंध जैसा बताकर कहा, जाये तो यह उपचरित सद्भूतव्यवहारनय हो जाता है। आत्मा स्व-पर का ज्ञाता है सो यह आत्मा का गुण ही है। यह किसी उपाधि से नहीं आया, इस कारण सद्भूत है, और उस ज्ञातापन का आत्मा से भेद कहकर बताया जा रहा है कि यह आत्मा स्व और पर का ज्ञाता है, यह उपचरित व्यवहार है। आत्मा वास्तव में किस प्रकार का स्वभाव किए हुए है इस तथ्य को सही रूप में रखता है तो स्व-पर का ज्ञाता है यह रूप नहीं रखा जा सकता। यह तो एक उपचरित व्यवहार से समझाया गया है। आत्मा तो स्वयं सहजसामान्यविशेषात्मक है और उसकी अर्थक्रिया भी चलती है। उसको समझाने के लिए स्व-पर का ज्ञाता है—यों भेदरूप करके कथन करना यह है उपचरित सद्भूतव्यवहारनय।

अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय—व्यवहारनय का चौथा प्रकार है अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय। इस नय ने अनुपचरित तत्त्व को ही बताया, सद्भूत तत्त्व को ही बताया। जिस तत्त्व को बताया वह एक पवित्र तत्त्व है, पर उसका व्यवहार किया वह अनुपचरित सद्भूतव्यवहार है। जिस पदार्थ में जो गुण है उसे उसी के ही बताया, पर बुद्धि की अपेक्षारहित बताया तो यह अनुपचरित कहलाता है। जैसे ज्ञान जीव का गुण है, यद्यपि जीव जानता है तो जानने में क्या आया, क्या बात बनी, हुआ क्या जानने में, उसका वर्णन तो स्व और पर का उपचार करके कहा जायेगा, पर यहां उपचार नहीं किया गया। केवल एक ज्ञानशक्ति ही बता दी गई। तो जीव का ज्ञान गुण है। यहाँ अनुपचरित है, सद्भूत है और चूंकि यह है निश्चयनय का विषय। प्रतिपादन करने वाला है अतएव व्यवहारनय है। इस प्रकार जिन नयों से वस्तुस्वरूप का परिचय कराया जाता है उन नयों की बात कही गई है। नयों से वस्तु का परिचय करके ज्ञान, उपादान और उपेक्षा अर्थात् त्यागने योग्य को त्याग देना, ग्रहण करने योग्य को ग्रहण कर लेना और उपेक्षा योग्य की उपेक्षा कर लेना, यह उसका फल है।

द्विविध सद्भूतव्यवहारनयों का वर्णन—व्यवहारनय का परिचय अन्य प्रकार से भी होता है, जिन्हें ५ प्रकारों में विभक्त कर लेना चाहिए। पहला प्रकार है शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय। पदार्थ तो शुद्ध है अर्थात् पर से विभक्त और स्व में तन्मय है, अवक्तव्य है, अखण्ड है, स्वभावात्मक है उस शुद्ध पदार्थ में गुणगुणी का भेद करना, पर्याय पर्यायान् का भेद करना यह शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय कहलाता है। जैसे यहाँ बताते कि चेतन द्रव्य में चेतन है तो चेतनद्रव्य अखण्ड है, जो है सो ही है, एकस्वरूप है। फिर भी उसमें स्वभाव-स्वभाववान का भेद करके बताया कि चेतन द्रव्य में चेतन है अथवा शुद्ध पर्याय और शुद्धपर्यायी का भेद करके बताया। जैसे—आत्मा की स्वाभाविक पर्याय सिद्धपर्याय है। अब जैसे सिद्धप्रभु का कोई ध्यान करता है, ध्यान में लेता है तो उस ध्यान में सिद्धप्रभु किस प्रकार से विषयभूत होते हैं? एक शुद्ध अखंड ज्योति। वहाँ द्रव्य है और इस शुद्ध पर्याय के रूप में देखा जा रहा है। जो भी परखा गया उसको पर्याय और पर्यायवान का भेद करके कहना कि सिद्धभगवान का शुद्ध पर्याय है, आत्मा की स्वाभाविक पर्याय सिद्धपर्याय है। इस तरह पर्याय और पर्यायवान में भेद करके कहना, यह शुद्ध सद्भूतव्यवहार है। दूसरा व्यवहार है अशुद्ध सद्भूतव्यवहार किया तो जा रहा है सद्भूत का व्यवहार, परन्तु वह सद्भूत अशुद्ध है याने उस ही द्रव्य के अशुद्ध परिणमन का उस ही द्रव्य में व्यवहार किया जावे तो वह अशुद्ध सद्भूतव्यवहार है। इस नय में अशुद्ध गुण और अशुद्ध गुणी का भेद करके कथन होता है तथा अशुद्ध पर्याय का अशुद्ध पर्यायवान से भेद करके कथन होता है। जैसे कहना कि अज्ञानी जीव के भाव अज्ञानरूप हैं, तो वह जीव अज्ञानी है, उस द्रव्य की विशेष रूप से व्याख्या हुई है कि अज्ञानी जीव। उस अज्ञानी जीव के परिणमन की व्यवहार में कहना सो अशुद्ध सद्भूतव्यवहार है।

त्रिविध असद्भूतव्यवहारनयों का वर्णन—तीसरा व्यवहार है स्वजाति असद्भूतव्यवहार। यहाँ अब असद्भूत का वर्णन चलेगा। इस नय की दृष्टि में प्रयोजनवश अन्य रूप से वर्णन किया गया है। जैसी बात नहीं है, जिसका धर्म नहीं है किसी सम्बन्ध के कारण वह धर्म अन्य में बताना, किन्तु बताना अपनी जाति वाले में। तो ऐसा अपनी जाति में असद्भूत तत्त्व का व्यवहार आरोप करना स्वजाति का असद्भूतव्यवहारनय है। जैसे कहना कि परमाणु बहुप्रदेशी है। वास्तव में परमाणु बहुप्रदेशी नहीं होता, परमाणु तो एकप्रदेशी ही होता, किन्तु अनेक परमाणुओं का सम्बन्ध होने के कारण एक स्कंध बनता है और स्कंध बहुप्रदेशी है। स्कंध यद्यपि द्रव्य नहीं है, किन्तु वह अनेक द्रव्यों का समुदाय है, लेकिन है तो बहुप्रदेशी तो स्कंध को बहुप्रदेश का स्कंध की जाति में आये हुए परमाणु में आरोप करना स्वजाति असद्भूत व्यवहार है। इस नय से यह निर्णय बताया गया है कि असद्भूत तत्त्व वास्तविक तथ्य तो नहीं है, लेकिन उसका व्यवहार उसकी ही जाति में किया गया है। तो वस्तुस्वरूप के परिचय का वर्णन है। कहा किस प्रकार से वस्तु का परिचय किया जाता है? यह सब कथन इन नयों के प्रकरण में कहा गया है। चौथा प्रकार है विजातीय असद्भूतव्यवहारनय। इस नय में व्यवहार तो किया गया असद्भूत का याने जो पदार्थ में वास्तविक तो नहीं है, किन्तु किसी परउपाधि सम्बन्धवश उसका उपचार किया गया है, जैसे यहाँ कहना कि मतिज्ञान मूर्त है आत्मा मूर्त है तो आत्मा अथवा मतिज्ञान ये कुछ वास्तव में मूर्त तो नहीं है, किन्तु जब आत्मा का कर्मउपाधि के साथ बन्धन है तो उस बन्धन के प्रति एकत्व होने से आत्मा अमूर्त कहा जाता है, तो यह स्थिति मूर्त द्रव्य के सम्बन्ध के कारण बनी है, उसका आत्मा में

व्यवहार वरना विजातीय असद्भूतव्यवहार है। ५वां प्रकार है स्वजाति विजातीय असद्भूतव्यवहार, याने इस नय की दृष्टि में कथन तो होगा असद्भूत का, मगर उस असद्भूत का ऐसे पदार्थ में उपचार किया गया है जो पदार्थ उस धर्म के स्वजाति में आता और विजाति में भी आता। जैसे यह कहना कि जीव व अजीव दोनों ही ज्ञान है। क्योंकि ज्ञान के विषयभूत होने से। एक दार्शनिक का सिद्धान्त है कि जगत में जो कुछ है वह सब ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञान में या तो हमने जाना। ज्ञान में नहीं है तो हम जानें क्या? तो वह पदार्थ वस्तुतः कुछ नहीं है, किन्तु वह ज्ञान का ही परिणमन है। तो यह ज्ञान बताया जा रहा स्वजाति और विजातीय दोनों में। ज्ञान का जो विषय है वह स्वयं ज्ञान तो नहीं है, फिर भी उसमें ज्ञान का उपचार है और उसे बताया जा रहा है ज्ञान का जाति वाला द्रव्य जीव में और ज्ञान के विरुद्ध द्रव्य अजीव में। तो इस तरह ज्ञान के विषय में ज्ञान का व्यवहार करना और उसे जीव और अजीव के कहना यह स्वजाति विजाति असद्भूतव्यवहारनय है। इस तरह यह सब नयों का वर्णन हुआ।

प्रमाण और नयों की उपयोगिता का समर्थन—प्रमाण से भले प्रकार परिचय किए हुए पदार्थ में किसी दृष्टि को मुख्य करके उस विषय को प्रधानतया जानना, सो यह है नय का विषय। नयों के परिचय से प्रमाण का परिचय बनता है और प्रमाण के परिचय से नयों में समीचीनता आती है। इस प्रकार जो इस अध्याय में ग्रन्थकार उमास्वामी महाराज ने जो एक उद्देश्य बताया था प्रथम अध्याय में कि जीवों को मोक्षमार्ग अभीष्ट है, वह मोक्षमार्ग सम्यगदर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप है। सम्यगदर्शन कहते हैं पदार्थ का जैसा भूतार्थ विधि से स्वरूप है उस रूप में पदार्थ का परिचय करना, उस परिचय के लिए आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व का परिचय आवश्यक है, अर्थात् पदार्थों का परिचय किया जाना चाहिए। सो उस परिचय का मुख्य उपाय एक सूत्र में प्रमाण और नय बताया था। तब से इस ही विषय का वर्णन चल रहा है कि वह प्रमाण और नय क्या है, कैसा है, जिसके द्वारा वस्तु का परिचय होता है? उस वर्णन में नय तक का वर्णन यहाँ समाप्त हुआ है। अब अविशिष्ट थोड़ी बात और समझनी चाहिए कि प्रमाण और नयों से तो पदार्थ के किसी तथ्य का परिचय होता है, लेकिन तथ्य का जहाँ सम्बंध तो नहीं है, केवल जीवों के मोह रागद्वेषवश कल्पना जग रही है तो ऐसा परिचय, ऐसा व्यवहार न प्रमाण में आता, न नय में आता, किन्तु वह सब उपचार मात्र है। निश्चयनय और व्यवहारनय—ये तो वस्तु के तथ्य को बताते हैं। एक विधिरूप से बताता, दूसरा निषेध रूप से बताता, पर परिचय करने वाले का उद्देश्य विशुद्ध स्वरूप का परिचय करता है। लेकिन एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ का कह डालना यह तो उपचार है। नय में भी शामिल नहीं होता। तो उपचार लोग तीन प्रकार से किया करते हैं—एक तो अपनी जाति में, जिसका नाम है स्वजाति उपचरित असद्भूतव्यवहार। जैसे एक यह कहना कि पुत्र, स्त्री, बंधु, मित्र मेरे हैं। तो चेतन में व्यवहार किया, इसलिए स्वजाति है और मेरा नहीं है फिर भो मेरा कहा जा रहा, यह असद्भूतव्यवहार है। यदि कोई अचेतन को ही अपनाये कि वस्त्र, मकान मेरे हैं तो यह भी सब सद्भूत का ही व्यवहार किया गया, किन्तु किया गया विजाति में अर्थात् मेरा है यह, इस शब्द से जिसने कहा—मैं वह तो चेतन है और इस मेरेपन का उपचार व्यवहार किया गया है विजाति में अचेतन में तो यह है विजातीय उपचरित असद्भूतव्यवहार। यदि कोई यह बताये कि यह देश, नगर मेरा है तो देश क्या चीज है?

चेतन और अचेतन पदार्थों का समुदाय। मनुष्य भी हैं, मकान भी हैं, पशु-पक्षी भी हैं, इन सबका मिलकर जो रूप बना वह, कहलाता है देश। तो देश हुआ स्वजाति और विजातिरूप, उसमें मेरेपने का व्यवहार किया गया यह हुआ स्वजातिविजाति असद्भूतव्यवहार। यह सब उपचार मात्र है। और इन तीनों उपचारों से पहले जितना जो कुछ भी कथन आया वह वस्तुस्वरूप के परिचय के लिए था।

नयों का मूलरूप और नयों के वर्णन का प्रयोजन—ये नय जितनी दृष्टियां बनायी जायें उनने बन जाते हैं। पर सभी नयों के मूल स्रोत दो ही हैं—(१) भेदनय और (२) अभेदनय। प्रत्येक मनुष्य या तो अभेद में कोई शामिल है या कोई भेदनय में शामिल है। इन नयों के परिचय से लाभ यह है कि भेदनय और अभेदनय से वस्तु के समस्त तथ्य पहिचाने जाते हैं। पहिचानकर यह ज्ञानी भव्य जीव भेदनय को गौण करता है, क्योंकि भेदनय विकल्प की ओर ले जाता है और अभेदनय को मुख्य करता है, क्योंकि अभेदनय आत्मा के उपयोग को अभेद की ओर ले जाकर एक विकल्पजाल से दूर करता है, फिर भी ये दोनों विकल्प हैं। ज्ञाता पुरुष इन दोनों नयों का उपयोग सही उठाकर फिर दोनों नया से भी अतीत होकर एक निज अनुभवनमात्र स्थिति में रहता है। ऐसी एक मंगलमय अनुभूति जिन भव्य जीवों को चाहिए उनका कर्तव्य है कि सर्वप्रथम नयों के द्वारा वस्तु का सही परिचय करें, प्रमाण के द्वारा उसे प्रमाणित करें और अन्त में सर्वविकल्पों से अतीत एक सहज अन्तस्तत्व को अनुभव कर इस मंगलमय समाधि को प्राप्त होवे। इसके लिए ही इस प्रथम अध्याय में वस्तुस्वरूप के अधिगम का उपाय विस्तारपूर्वक कहा गया है।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन दशम भाग समाप्त ॥